

**TEXT CROSS
WITHIN THE
BOOK ONLY**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186316

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 80
K 45 S

Accession No. H 3520

Author रवली, एस्. पी.

Title साहित्य परिचय १९६३

This book should be returned on or before the date last marked below.



शक्ति प्रसंग



डॉ. एम. पी. स्वामी



साहित्य परिषद्

डॉ. एस. पी. खत्री



हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
वाराणसी-१.

Sahitya Parichaya : Dr. S. P. Khattri
Literature : A Critical Study



२५
१
५
००

●
प्रकाशक

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

पो. बॉक्स नं. ७०, पिशाचमोचन

वाराणसी-१.



संस्करण : प्रथम

२१००

फरवरी : १९६३



मुद्रक

ज्योतिष प्रकाश प्रेस

भैरोनाथ, वाराणसी-१.

आवरण : मनोरंजन कांजिलाल

प्रकाशकीय

स्वर्गीय डॉ० एस० पी० खत्री ने अपनी अल्प वय में हिन्दी-साहित्य की जिस लगन से सेवा की है, वह औरों के लिए अनुकरणीय है। प्रयाग-विश्वविद्यालय में अंग्रेजी-विभाग के प्राध्यापक होते हुए भी आप राष्ट्रभाषा हिन्दी के साहित्य-भाण्डार को उत्तमोत्तम कृतियाँ बराबर देते रहे। साहित्य की परख, हास्य की रूप-रेखा, सितारों की बारात आदि उनकी विशिष्ट कृतियों ने हिन्दी-जगत् में पर्याप्त ख्याति अर्जित की। प्रस्तुत पुस्तक उनकी अन्तिम कृति है, जो उनके जीवन-काल में प्रकाशित नहीं हो सकी थी।

पुस्तक का सम्पादन-कार्य व संशोधन पं० लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी' ने जिस परिश्रम और मनोयोग से किया है, इसके लिए उन्हें धन्यवाद देता हूँ।

'साहित्य-परिचय' में खत्री जी ने काव्य, नाटक, निबन्ध और उपन्यास तथा कहानी पर मौलिक रूप से विचार व्यक्त किए हैं। मेरा विश्वास है, यह पुस्तक हिन्दी-साहित्य के शास्त्रीय समीक्षा-ग्रन्थों में महत्त्व का स्थान प्राप्त करेंगे।

—प्रकाशक

दो शब्द

प्रस्तुत अध्ययन में हम साहित्य के विशेष अंगों—काव्य, समालोचना, उपन्यास तथा नाटक—का विवेचन करते हुए उनकी आत्मा तथा बाह्याकार का परिचय देने का प्रयत्न करेंगे। इस परिचय में संक्षिप्त रूप में उनके विश्लेषण तथा विवेचन की सरल प्रणाली पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जायगा। परन्तु फिर भी न तो यह परिचय पर्याप्त होगा और न चुनी हुई विश्लेषण-प्रणाली ही व्यापक कही जा सकेगी। इसका कारण यह है कि साहित्याध्ययन बीजगणित अथवा ज्यामिति के तर्कपूर्ण आधार पर नहीं होता। और हम चाहे कितने भी सरल सिद्धान्त क्यों न निर्मित कर लें, साहित्य की आत्मा तक पहुँचने के लिए हममें स्वयं कुछ विशेष गुण अपेक्षित होंगे।

कलाकार कल्पना-जगत् का प्राणी रहता है। समुद्र के च्वार के समान वह जीवन-सागर को अवगाहता हुआ कुछ रत्न छोड़ जाता है और जब तक हम यह समझें कि वह ये रत्न कहाँ से और कितनी गहराई से बीन कर ले आया, तब तक वह समुद्र के तट समान पुनः लौट जाता है। हमारे सम्मुख केवल कलाकार की रचना ही रह जाती है और उसी को उलट-पलट कर हम उसके कल्पना-प्रसूनों की महँक का आनन्द लेने का प्रयास करते हैं। कलाकार की कल्पना एक ऐसा तत्त्व है जिसका अवगाहन बड़े-से-बड़े आलोचकों के लिए पूर्णतः सम्भव नहीं। आलोचक तो कला के कुछ ही आन्तरिक तथा बाह्य गुणों की ओर संकेतमात्र दे सकता है और ये संकेत अनेक पाठकों को पर्याप्त भी नहीं जान पड़ेंगे। वास्तव में पाठक-वर्ग की यह माँग रहती है कि आलोचक उनके हाथ में ऐसी कसौटी दे दे, जिन्हें वे साहित्य की पूर्णरूपेण परख में व्यवहृत करें अथवा कुछ श्रेष्ठ नियमों की तालिका उन्हें कण्ठस्थ करा दे, जिसके आरोप द्वारा वे सफल आलोचना लिखने में सिद्धहस्त हो जायँ। यद्यपि पाठकों का यह आग्रह बहुत कुछ अंश में मान्य हो सकता है परन्तु श्रेष्ठ आलोचना-कला के लिए यह प्रणाली घातक होगी।

नियम और सिद्धान्त वास्तव में विज्ञान से सम्बन्धित शब्द होने चाहिए; इनके प्रयोग में स्थायित्व की ध्वनि आती है और इनका प्रयोग भी ऐसे ही

संदर्भों में होना चाहिए । परन्तु कला—चाहे वह किसी भी आकार में क्यों न प्रस्तुत हो—केवल नियमों की अपेक्षा नहीं करती; उसके लिए सबसे प्रमुख नियम सहृदयता और सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त कल्पनात्मक सहानुभूति होगी । और यदि पाठक-वर्ग में ये दोनों गुण समुचित मात्रा में होंगे, तो वे अपने अध्ययन और अनुशीलन के सहारे सफल आलोचक बन जायेंगे ।

इस अध्ययन की मौलिकता इसकी सरलता है, परन्तु इस सरल अध्ययन में विद्वान् पाठकों को अनेक गूढ़ संकेत भी मिलेंगे, जो विस्तृत रूप में प्रतिपादित किए जा सकेंगे । यदि पाठक-वर्ग इस सरल अध्ययन पर अधिकार कर लेगा तो अनेक विशिष्ट आलोचकों के साहित्य-सम्बन्धी अध्ययन उसके लिए अत्यधिक उपयोगी प्रमाणित होंगे ।

आशा है कि साहित्य के पठन-पाठन में संलग्न विद्यार्थी-वर्ग इससे समुचित लाभ उठाएगा ।

—एस० पी० खत्री

विषय-सूची

				पृ० सं०
१. काव्य	...	...	...	१
२. समालोचना	...	...	...	३१
३. उपन्यास	...	...	...	७०
४. नाटक	...	...	...	१०१



काव्य

काव्य और कविता

साधारणतया पाठक-वर्ग 'काव्य' शब्द का केवल एक अर्थ जानते हैं—
उनके लिए जो कुछ भी पद्य-रूप में लिखा जायगा कविता अथवा काव्य
कहलाने का अधिकारी होगा। परन्तु सच तो यह है

काव्य का लक्ष्य कि यह अर्थ अत्यन्त भ्रामक है क्योंकि केवल बाह्य-
रूप पर ही कविता की परख असंभव होगी और
पद्य-रूप अथवा किसी छन्द का आवरण पहने हुए जो कुछ भी प्रस्तुत किया
जायगा कविता अथवा काव्य से बहुत दूर भी रह सकता है। फलतः हमें
कविता के बाह्य आकार पर ध्यान न देकर उसके कुछ आन्तरिक तत्त्वों पर
विचार करना फलप्रद होगा। और जब हम किसी भी सफल अथवा श्रेष्ठ कविता
का पठन-पाठन करेंगे तो हमें एक विचित्र तथा रहस्यपूर्ण अनुभव होगा और
इस अनुभव का प्रमुख तत्त्व रहेगा—मानसिक आनन्द। यह गुण प्रायः समस्त
साहित्य में निहित रहता है और तभी वह साहित्य कहलाने का अधिकारी भी
होता है; अतएव जो कुछ भी साहित्य रूप में लिखा जायगा और आनन्द की
अनुभूति देगा कविता अथवा काव्य कहलायेगा। उसका न तो कोई प्रयोजन
होगा और न वह साधारणतः उपयोगी ही प्रतीत होगा। उसकी उपयोगिता
केवल यही है कि वह आनन्द की सृष्टि करता है। फलतः साहित्य चाहे गद्य,
लेख, कहानी-उपन्यास रूप में विरचित हो अथवा नाटक-रूप में लिखित हो
अथवा महाकाव्य, खंडकाव्य, गीतकाव्य रूप में प्रस्तुत हो, सतत आनन्द
की सृष्टि करेगा। साहित्य का केवल एक महान् लक्ष्य है—आनन्दानुभूति।

जैसा हम संकेत दे चुके हैं केवल छन्द का आकार लिए हुए पद्य-रूप में
जो कुछ भी लिखा जायगा कविता अथवा काव्य कहलाने
काव्य का अधिकारी नहीं होगा और इसका प्रमाण यह है कि
पद्य रूप चिकित्साशास्त्र, ज्योतिष, तर्कशास्त्र, व्याकरण इत्यादि विषयों
पर लिखी गई अनेक पुस्तकें पद्य में हैं। उनके अध्ययन
में हमें आनन्द की प्राप्ति नहीं होती परन्तु उनकी उपयोगिता में कोई सन्देह

नहीं। अपने विषय की दृष्टि से तो वे उपयोगी हैं ही; पद्य-रूप में भी वे इसलिये उपयोगी हैं कि हम उन्हें इस रूप में शीघ्रता से कण्ठस्थ कर लेते हैं और उन्हें शीघ्रता से भूल भी नहीं सकते। पद्य हमारी स्मरण-शक्ति की सहायता करेगा और गद्य यह सहायता करने से वञ्चित रहेगा; फलतः पद्य का आकार हमारे अध्ययन के लिए अत्यन्त उपयोगी होगा।^१ इस दृष्टि से पद्य की उपयोगिता तो प्रमाणित हो गई परन्तु कविता तथा काव्य की क्या उपयोगिता होगी इस पर विचार करना आवश्यक होगा। यह तो हम स्पष्ट कर ही चुके हैं कि कविता तथा काव्य आनन्द की सृष्टि करेंगे परन्तु क्या इसका अतिरिक्त उसका कोई अन्य प्रयोजन भी होगा? आनन्द की अवतारणा तो अन्यान्य वस्तुओं और अन्यान्य उपक्रमों से भी संभव होती है; काव्य को इतना महत्त्व क्यों दिया जाय? क्या आनन्द ही ऐसा तत्त्व है जिसके कारण इसकी महत्ता समाज में प्रतिष्ठित है? क्या इसीलिए हमें उसका पठन-पाठन आवश्यक है? क्या केवल इस आनन्द की प्राप्ति के लिए हम अपना अनमूल्य समय उसे हृदयगम करने में व्यय करें। मानव-समाज के ऊपर तो अनेक उत्तरदायित्व हैं और यदि इन्हीं की पूर्ति में वह अपना समस्त समय लगाये तब क्या बहुत-कुछ करने के लिए समय शेष रह जायगा—फिर काव्य के प्रति इतना पक्षपात क्यों? क्या हमारा जीवन में उसका कोई ऐसा विशिष्ट स्थान है जो बिना उसके अपूर्ण अथवा रिक्त रहेगा?

१. हमें उस युग की कल्पना करनी चाहिए जब न तो मुद्रणालय थे और न पुस्तकें मिलती थीं; पाठक-वर्ग अपना स्मरण-शक्ति के सहारे ही ज्ञानार्जन तथा ज्ञान का प्रसार किया करता था और ताम्रपत्र अथवा भोजपत्र पर लिखी हुई पुस्तकों की संख्या बहुत ही कम होती थी।
२. काव्य के इतिहास का यदि अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट होगा कि अनेक युगों में इसके विरोधी इसके विरुद्ध प्रमाण प्रस्तुत करते रहे। युद्ध-क्षेत्र के अनेक विजेताओं ने इसे कोई भी महत्त्व प्रदान नहीं किया। और वे उसे घृणा की दृष्टि से देखते रहे; अनेक श्रेष्ठ विचारकों ने भी कवि को बहुत महत्त्व नहीं दिया और स्वयं भी कवि होते हुए उन्हें पागलों अथवा विक्षिप्तों की संज्ञा प्रदान की। प्राचीन युग के कुछ श्रेष्ठ दर्शनज्ञों को तो कवि और कविता इतनी घातक ज्ञात हुई कि उन्होंने इस सिद्धांत का समर्थन किया कि जहाँ कवि होंगे वहाँ आदर्श जीवन व्यतीत करना असंभव होगा और आदर्श लोकतंत्र तभी स्थापित हो सकेगा जब

परन्तु इसके पहले कि उसकी उपयोगिता के प्रमाण ढूँढे जायें यह आवश्यक होगा कि हम काव्य की परिभाषा निर्मित कर लें और उसके अन्यान्य तत्त्वों को परख लें तत्पश्चात् उसकी उपयोगिता का प्रश्न काव्य की परिभाषा शीघ्र ही सुलझ जायगा । परन्तु काव्य भी परिभाषा का निर्माण भी सरल नहीं क्योंकि इतनी अधिक परिभाषाएँ निर्मित हो चुकी हैं कि कठिनाई और भी बढ़ गई है । दर्शनज्ञों, कलाकारों, कवियों, विचारकों तथा आलोचकों ने काव्य के अन्यान्य तत्त्वों को ध्यान में रखकर इतनी अधिक मनोनुकूल परिभाषाएँ निर्मित कर ली हैं कि यह समस्या और भी जटिल हो गई है । यदि एक तत्त्व पर आधारित परिभाषा मान्य ठहराई जाय तो उसमें एकांगी दोष आ जायगा और उसके व्यापक तत्त्वों का प्रकाश न हो पायेगा और यदि समस्त तत्त्वों को व्यापक रूप में परिभाषित करने की चेष्टा की जायगी तो परिभाषा एक पुस्तक का रूप ले लेगी । साधारण पाठक-वर्ग न तो किसी दर्शन-पूर्ण तथा वैज्ञानिक परिभाषा से काव्य को हृदयंगम कर सकेगा और न उसके अनेक तत्त्वों की क्रम-बद्ध सूची देने से ही सन्तुष्ट हो सकेगा । इसलिए परिभाषिक रूप में हम यदि यह कहें कि काव्य वही होगा जो कवि द्वारा निर्मित होगा तो सहज ही में बहुत सी कठिनाइयाँ दूर हो जायँगी और हम काव्य के मूल तत्त्वों के अनुसंधान में सहज ही सफल होंगे । जब हमने यह निश्चित कर लिया कि काव्य द्वारा जो कुछ भी निर्मित होगा काव्य कहलाएगा तो हम सहज ही यह प्रश्न पूछना चाहेंगे कि कवि काव्य-निर्माण में किन-किन तत्त्वों का प्रयोग करता है । और यदि हम फिर श्रेष्ठ दर्शनज्ञों और आलोचकों की शरण गए तो हमें पुनः दर्शनात्मक तत्त्वों और शब्द-जाल में उलझी हुई परिभाषाओं के दर्शन होंगे और विचारक हमसे यह कहेंगे कि काव्य, परी-देश के वातावरण से स्वर्णिम स्वप्नों का अमर संसार सँजोता है और हम अवाक उसकी ओर देखते रहेंगे; क्योंकि न तो परी-देश से ही हमारा परिचय है और स्वर्णिम स्वप्नों की अमरता ही हमने प्रमाणित देखी है । अथवा जब कोई विचारक यह कहता है कि 'काव्य, ज्ञान-विज्ञान का केन्द्र है' अथवा

कवियों का व्यापक बहिष्कार होगा क्योंकि कवि असत्य-भाषण में सर्वोपरि हैं और वे हमारे मानवी जीवन को अपने असत्य-भाषण द्वारा शाश्वत सग्यों से बहुत दूर ले जाते हैं । कुछ विचारकों ने काव्य को केवल प्रलाप मात्र समझा और कुछ ने उसे आध्यात्मिक वितण्डावाद नाम से भी संबोधित किया ।

‘संगीतपूर्ण विचार का नाम काव्य है’ तब भी हमारे हाथ कुछ लगता नहीं । हम आलोचकों और दर्शनशौ की प्रतिभापूर्ण परिभाषाओं^१ से आकृष्ट तो होते

१. शैली—“साधारण रूप से, काव्य कल्पना की अभिव्यक्ति है ।”

वर्द्धसवर्थ—“प्रभावपूर्ण भावनाओं का स्वच्छन्द तथा बहुल प्रवाह काव्य है; भावना की एकान्त पुनरावृत्ति में ही इसका उद्गम है ।”

पुनः—“काव्य पुरुष तथा प्रकृति का प्रतिबिम्ब है ।”

इमर्सन—“जड़ शरीर की ओट में छिपी हुई आध्यात्मिक रहस्य की अभिव्यक्ति में ही काव्य प्रयत्नशील रहेगा ।”

जॉनसन—“काव्यकला कल्पना तथा तर्क के सहयोग से, आनन्द तथा सत्य का समन्वय करती है ।”

कार्लाइल—“संगीतपूर्ण विचार का नाम काव्य है ।”

मैफॉले—“चित्रकार के रंगों के प्रयोग के समान, शाब्दिक प्रयोग से कल्पना के आधार पर माया के आवरण डालना काव्य है ।

कोलरिज—“वैज्ञानिक पुस्तकों के विपरीत, कविता एक ऐसी रचना है, जिसका तात्कालिक ध्येय सत्य प्रदर्शन न होकर आनन्द प्रदर्शन है ।”

मैथ्यू आर्नल्ड—“कविता जीवन की सौन्दर्य तथा आनन्द-पूर्ण व्याख्या है ।”

ले हन्ट—कल्पना तथा चयन शक्ति के सहयोग तथा भाषा के असम प्रयोग से सत्य, शिवं, सुन्दरं की अभिव्यक्ति की लालसा काव्य है ।”

एडगर एलेन पो—“सौन्दर्य की लयपूर्ण सृष्टि काव्य है ।”

हैज़लिट—“काव्य, हमारी कल्पना और तीव्र मनोवेगों की भाषा है ।”

केजिल—“कल्पना अथवा भावनाओं की अति काव्य द्वारा अपना सन्तुलन करती है ।”

डायल—“वर्तमान के प्रति हमारे असंतोष द्वारा काव्य की सृष्टि होगी ।”

रस्किन—“उदात्त भावनाओं का कल्पनात्मक प्रसार काव्य कहलायेगा ।”

कोर्टहोप—“काव्य वह कला है जो समुचित कल्पनात्मक विचारों की अभिव्यक्ति छन्दपूर्ण भाषा में करती है ।”

वाट्स-डण्टन—“भावनापूर्ण तथा लयपूर्ण भाषा में, मानव मस्तिष्क की कलात्मक अभिव्यक्ति काव्य कहलाएगी ।”

हैं परन्तु काव्य का सहज रूप नहीं परख पाते। परन्तु यदि हम सरलता का ध्यान रखते हुए यह कहें कि काव्य शब्दों के आधार पर साकार होता है, तो हम काव्य के एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व को शीघ्र ही हृदयंगम कर लेंगे। काव्य में जो भी आकर्षण होगा; जो भी प्रभावोत्पादकता होगी; जो भी रहस्य होगा— शब्द तथा शब्द-प्रयोग द्वारा ही आविर्भूत होगा और काव्य-रचना में इस महत्त्वपूर्ण तत्त्व का अनुसंधान बहुत आवश्यक है।

यद्यपि समस्त मानव-समाज शब्दों का प्रयोग करता आया है और शब्द ही उसके जीवन के आदान-प्रदान के आधार रहे हैं फिर भी शब्दों का महत्त्व हमने बहुत कम अंश में हृदयंगम किया है। उनमें

काव्य के मूलतत्त्व :

शब्द

न तो हमने कोई प्रभावोत्पादकता देखी और न किसी रहस्य के ही दर्शन किये। साधारणतः हमने शब्दों को किसी वाक्य अथवा वाक्यांश का छोटे से छोटा अंग ही माना है अथवा उसकी ध्वनि द्वारा विचारों की अभिव्यक्ति की है। परन्तु इस सीमित अर्थ के अतिरिक्त भी हमें ध्यानपूर्वक देखने पर यह आभास मिलेगा कि शब्दों की शक्ति इतनी कम नहीं जितनी हम समझते हैं। अक्षरों के छोटे से छोटे समूह में, जिनमें कुछ भी अर्थपूर्णता होगी उनमें भी कम शक्ति दृष्टि-गत नहीं होगी। वास्तव में शब्दों के अन्तरतम में अर्थ का अथाह सागर लहराया करता है; उनमें संकेत देने की अपूर्व शक्ति निहित रहती है और ज्यों-ज्यों मानव-समाज सभ्यता के पथ पर अग्रसर होता रहता है शब्दों का संकेत तथा तथ्यार्थ बढ़ता चलता है। अनेक शब्द ऐसे होंगे जो केवल विचारों के नहीं वरन् भावनाओं, मनोवृत्तियों और हमारी कल्पना के भी कोशरूप होंगे; उनमें भावनाओं का अविरल प्रसार रहेगा। उदाहरण के लिए ज्यों ही हम 'बालक' अथवा 'करुणा' शब्द का अर्थ ढूँढ़ेंगे तो हमें क्रम से जीवन के द्वार पर खड़ा अवोध बच्चा और एक मनोविकार ही अर्थ रूप में मिलेंगे। परन्तु वास्तव में ये अर्थ छोड़कर उससे आगे बढ़कर इन शब्दों के अन्तरतम में जो संकेत, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ के रूप में जो अर्थ-कोष होगा उसे हम भाषारूप में प्रयुक्त होते ही हृदयंगम करने लेंगे। इस प्रकार बालक की अवोधता, उसकी सरलता, उसका विश्वास, उसकी निर्बोधता इत्यादि विविध भाव शब्द के उच्चारण करते ही साकार होने लेंगे। वैसे ही साश्रु आँखें, सजल भावभंगी, किसी अत्याचारी के आगे जुड़े हुए हाथ, इत्यादि की रूप-रेखा हमें 'करुणा' शब्द के प्रयोग मात्र से दिखाई देने लगेगी और उसमें

हमारे मानव-समाज के दर्शन होंगे। शब्द हमारे जीवन की बहुमूल्य सम्पत्ति हैं। शब्द-प्रयोग में हम धीरे-धीरे अपनी मनःस्थिति, अपनी विचार-शृंखला, अपनी भाव-धारा के अनुरूप सुविचारित नूतन सङ्केत, नूतन भावनाएँ, नवीन कल्पना-चित्र उपस्थित करते हैं। जिस प्रकार एक चंचल बालक पेंसिल से एक गोला खींचने के पश्चात् उसके आसपास आड़ी-बेड़ी लकीरें खींच-खींचकर अपने सहपाठी का चित्र बनाता है, उसी प्रकार हम शब्दों की सीमा को बढ़ा-चढ़ाकर उसमें अपने मनोनुकूल भाव व्यक्त करते हैं और विशिष्ट आदर्शों को मूर्तरूप दिया करते हैं। यदि हम मानव-सभ्यता के विकास के समान शब्दों भी उत्पत्ति, उनके अर्थ-विस्तार, और समयानुकूल अर्थ-परिवर्तन की कहानी पढ़ें तो हमें यह सहज ही मालूम हो जायगा कि मानव-जाति ने सहस्रों वर्षों के अपने महान अनुभव-कोष को अक्षरों के सुरक्षित कक्षों में बड़ी सावधानी से सांज्रित कर दिया है। शब्द-कोष हमारे जीवन की ऐसी धन-राशि है, जो निरन्तर व्यवहृत होकर सभ्यता के विकास में संलग्न रहती है और प्रत्येक प्रयोग में प्रसंगानुकूल नूतन अर्थ दिया करती है। शब्द, मानव-जीवन की चिरन्तन अनुभूतियों के कोष हैं।

कवि की शब्द-शक्ति—हाँ, यह सही है कि 'शब्द-सागरों' अथवा 'कोशों' की रचना करने वाले शब्दों के अर्थों में स्थायित्व ला देते हैं, उन्हें मृत समझते हैं, उन्हें सीमित कर उन्हें अर्थ-विशेष में बाँध देते हैं। परन्तु भाषा-विज्ञान पग-पग पर प्रमाण प्रस्तुत करता दिखाई पड़ता है कि किस प्रकार मनुष्य अपनी भावनाओं, अपने विचारों, अपनी प्रेरणाओं को भर कर शब्द में नव जीवन फूँकता रहता है। दर्शनज्ञ जब अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं तो वे यह नहीं चाहते कि पाठक-वर्ग उनके शब्द-प्रयोग के मनमाना अर्थ लगाए। वे केवल एक अर्थ वाले शब्द चाहते हैं जिससे उनका मनोनीत विचार समाज में फैले और वे शब्दों को उसी प्रकार व्यवहृत करेंगे जैसे शतरंज के खिलाड़ी गोठियों का करते हैं। गोठियों में कोई संकेत नहीं, उनमें किसी प्रकार का स्वरूप-भेद भी सम्भव नहीं; उसी प्रकार दर्शनज्ञों का शब्द-प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में उनके विचारानुकूल ही होता है। यही प्रयोग उनके लिए हितकर भी होगा। कलाकार और कवि अपनी कृति में ऐसे शब्दों का प्रयोग करेंगे जो अपना विशाल भावना-क्षेत्र अपने भीतर समेटे होंगे। दर्शनज्ञों के शब्द-प्रयोग तो उनके तर्कपूर्ण विचारों के क्रम में एक निश्चित अर्थ प्रकट करेंगे। यही कारण है कि दर्शनज्ञ स्थायित्वपूर्ण शब्दों का प्रयोग करता है। कलाकार तथा कवि द्वारा प्रयुक्त शब्द ऐसे होते हैं जो मानवी

भावनाओं से भरपूर हैं; जो बहुत संकेतों से सम्बद्ध रहते हैं और वे प्रसंगानुकूल बहुत-से अर्थों को अपने हृदय में छिपाए रहते हैं। कवियों और कलाकारों की दुनियाँ ही पृथक् है। मानव-समाज चाहे जो भी शब्द अपने दैनिक जीवन में जिस भी निश्चित अर्थ में प्रयुक्त करता हो, कवि अथवा कलाकार उस अर्थ के रूप अथवा मात्रा में अपने अभिलिखित अर्थ के अनुसार परिवर्तन कर लेगा और अपने अभीष्ट अर्थ ही की झोकी दिखलाएगा। प्रत्येक शब्द, जो कलाकार या कवि द्वारा प्रयुक्त होगा अपने में कोई विशेष अर्थ लिए होगा और उसके उच्चारण में ही ऐसी आह्वान-शक्ति, पग्लिक्षित होगी जो मात्र सुनने से ही पाठक को अपनी ओर आकृष्ट करती रहेगी और जैसे-जैसे मानव का अनुभव आयु के साथ विस्तृत होता जायगा, शब्दों की सजीवता वैसे ही वैसे बढ़ती जायगी। फलतः वह कलाकार या कवि जो शब्दों के प्राण में प्रत्येक शब्द से खेलता हुआ दृष्टिगोचर होगा अत्यधिक अनुभव जान पड़ेगा। उसका अनुभव-कोश विशाल एवं विस्तृत होगा, उसका भावना-क्षेत्र निरसीम होगा और हमें यह ज्ञात हो जायगा कि इस कवि में कोई विशेष प्रतिभा है; कोई विशेष शक्ति उसके अन्तःकरण में शब्दार्थ-प्रेरक है जिसके द्वारा वह अपने प्रत्येक शब्द-प्रयोग में सार्थक नूतन अर्थ और रहस्यपूर्ण आकर्षण ला देता है। कवि जिस शक्ति के द्वारा शब्दों को अत्यन्त आकर्षक तथा प्रेरणापूर्ण रूप में प्रयुक्त करता है उसे हम ईश्वर-दत्त कवि-प्रतिभा की संज्ञा प्रदान करेंगे।

कवि सहज रूप में, शब्दों की आकर्षण-शक्ति से पूर्णतया परिचित होता है। उसकी लोकोत्तर प्रतिभा की चुम्बक-शक्ति शब्द रूपी लौह को अपनी ओर खींच लेती है और जो शब्द जितने भी अधिक अर्थों को शब्दों का आकर्षण अपने में समेट सकेगा वे सब उसमें सहज ही लिपट जाएँगे। जिस प्रकार दर्पण के सामने जाने पर मनुष्य की आकृति उसमें एकाएक प्रदर्शित हो जाती है और उसका सम्पूर्ण रूप सामने आ जाता है उसी प्रकार कवि का भाव काव्य में प्रयुक्त शब्द स्पष्ट प्रकट कर देता है और उसके शब्द इतनी कुशलता से ग्रथित होते हैं कि उसका गम्भीर अनुभव चित्र रूप में चित्रित हो जाता है। प्रतिभाशाली कवि अपनी शक्ति के प्रकाश में प्रत्येक शब्द को जीवित रूप में देखता है इसी लिए उसके द्वारा प्रयुक्त शब्दों में सर्वत्र काव्य की कला निहित रहेगी। कलाकार और कवि शब्द के अन्तःपटल में उसकी आत्मा के दर्शन करेगा। इसमें किंचिद्

मात्र भी सन्देह नहीं कि जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति की कुछ अपनी निजी विशेषता रहती है, निजी गुण रहते हैं और निजी व्यक्तित्व रहता है उसी प्रकार प्रत्येक शब्द में उसका निजी व्यक्तित्व, निजी गुण और निजी विशेषता रहती है। कवि इन गुणों को, व्यक्तित्व को और विशेषताओं को पहचानेगा और उसकी लेखनी से निकला शब्द ऐसा होगा जिसे केवल वही लिख सकेगा जिसमें कवि की आत्मा निहित होगी। इसीलिए जब कवि हमसे कहता है कि—

“हृदय न ‘बिदरेउ’ पंक जिमि बिछुरत प्रियतम नीर ।”

तो हमारी आँखों के सम्मुख एक सजीव चित्र उपस्थित हो जाता है। नीर के साथ पंक का वही सम्बन्ध है जो हृदय और प्रियतम में होता है। पंक से जल जब धीरे-धीरे सूखने लगता है तो उसमें दरारें पड़ने लगती हैं, उसमें क्रमशः कठोरता आती है और वह प्राणहीन ज्ञात होने लगता है। इस प्रकार प्रतिभाशाली कवि ने अपने केवल एक शब्द में चित्रित भाव-मूर्ति में किस कुशलता के साथ धीरे-धीरे सिमटती हुई जल-राशि, जिसका क्रमशः समापन हो जाता है, तत्पश्चात् पानी की अन्तिम लकीर और कीचड़ के वक्षस्थल का विदीर्ण हो जाना—सब एक साथ ही प्रत्यक्ष करा दिया है। ये सारी बातें ‘बिदरेउ’ शब्द के उच्चारण से ही प्रतिध्वनित होने लगती हैं। इसी प्रकार की प्रतिध्वनि हमें ‘बिछुरत’ शब्द में भी सुनाई पड़ती है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे प्रियतम प्रेमपात्र को छोड़कर, मुँह फेरकर, दूर-दूर रहता हुआ, चुपके-चुपके आगे पैर बढ़ाता हुआ, अपना अन्तिम आभास देता हुआ और प्रेमी-मन में फैले हुए अपने स्वरूप को समेटता आँखें नीची किये हुए जाने का आभास “बिछुरत” शब्द भी देता है। उपर्युक्त पंक्ति में यदि कवि ‘बिदरेउ’ के स्थान पर ‘टूटेउ’ अथवा ‘फाटेउ’ शब्द का प्रयोग करता तो इनमें न तो उस चित्र को प्रस्तुत करने की शक्ति होती और न वैसी गम्भीर ध्वनि ही सुनाई देती। उसी प्रकार जब कवि निम्नांकित पंक्तियों में—

“ऊधो मोंहि ब्रज ‘बिसरत’ नाहीं”

“‘झलकीं’ भरि भाल ‘कनी’ जल की”

“सुनि ‘अठिलैहैं’ लोग सब”

“देखत बनै न देखते, बिन देखे ‘अकुलाहिं’”

“लाज लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं ।

ये मुंहजोर तुरंग लौं, ‘ऐंचत’ हू चलि जाहिं ॥”

में 'विसरत', 'झलकी', 'अठिलैहैं', 'अकुलाहि', 'ऐंचत', शब्दों में से प्रत्येक शब्द हमारे सम्मुख भावनाओं के सजीव प्रतिबिम्ब उपस्थित कर देता है। 'विसरत' शब्द के पीछे हमें बार-बार सुधि आने की दुःखमयी भावना का स्पष्ट आभास और बार-बार चेष्टा करने पर भी किसी प्रकार भूल न पाने की भावना का चित्र सामने प्रस्तुत हो जाता है। कदाचित् "भूलत" शब्द न तो बार-बार सुधि आने की बात प्रकट करता और न वांछित चित्र प्रस्तुत करने में समर्थ होता। 'झलकी' शब्द में वन-मार्ग पर चलती हुई सीता के मस्तक पर पसीने की कणिकाओं का इकट्ठी होकर, बूंद रूप लेकर, कनक के समान अंग की गुराई की पृष्ठभूमि में हमें चमकने और फिर क्रमशः आगे बढ़ने पर सिमटकर बूंद रूप ग्रहण करने की क्रिया और स्वर्ण के समान उसकी कान्ति सहज ही प्रतिबिम्बित मिलेगी। शब्द 'अठिलैहैं' यह व्यक्त करता है कि लोग हमारी दुःखद गाथाएँ सुनकर हमें अपना व्यंग्य-भाजन ही बनाएँगे। यह शब्द उनकी सुखा-कृति, हाथ-संचालन की गति, उनकी सम्पूर्ण भावभंगी का द्योतक है जो 'अठिलैहैं' शब्द में पूर्णतया प्रतिबिम्बित है। इसी प्रकार नैनो की विवशता और देखने के आग्रह का द्वन्द्व, बार-बार आग्रह की शक्ति और लज्जा का नियंत्रण, दोनों के सम्पूर्ण स्वरूप का चित्र हमें 'ऐंचत' शब्द में अन्तर्हित परिलक्षित होगा। बरजोर घोड़े सफल सवार की लगाम का नियन्त्रण मानते हुए भी नहीं मानते और ज्यों-ज्यों उनके हाथ की लगाम खिंचती जायगी उतना ही उनका आग्रह बढ़ता जायगा और वे अवांछित दिशा की ओर दो-चार कदम चले ही जाएँगे। इसी प्रकार नियंत्रण मानकर भी न मानते हुए "नैनों" के विवशतापूर्ण संघर्ष का भावनापूर्ण चित्र प्रस्तुत शब्द उपस्थित करता है। वस्तुतः यदि कवि की आत्मा से परिप्लुत शब्दों के स्थान पर कुछ इसी अर्थ के शब्द हम प्रयुक्त करें तो कवि की मनोवांछित भावमयी सृष्टि निर्जीव हो जायगी और उन शब्दों के द्वारा विकृत चित्र ही परिलक्षित मिलेंगे और इसके विपरीत हम देखते हैं कि कवि द्वारा प्रयुक्त शब्दों में ही हमें भावना का अथाह सागर लहराता मिलता है। यही कारण है कि कवि ऐसे शब्दों का चयन करके कविता में रखता है जो संकेतों तथा अनेक प्रेरणा से भाव-गाम्भीर्य लिए होते हैं। इसी कारण काव्य में ऐसे चुने शब्दों के प्रयोग मिलते हैं जैसे किसी अन्य प्रकार की रचना में दृष्टिगत नहीं होंगे। शब्दों के समीचीन प्रयोग में ही काव्य-कला निहित रहेगी और काव्य महान् होगा जो श्रेष्ठातिश्रेष्ठ शब्द-प्रयोग से परिपूर्ण होगा। गद्य-लेखक शब्दों के तर्कपूर्ण अर्थ को ध्यान में रखेंगे; कवि शब्दों के भावनात्मक तथा अनुरंजित करने वाली शक्ति को परखेंगे। श्रेष्ठ

कविता वही होगी जिसमें शब्दों का सम्पूर्ण अर्थ प्रतिबिम्बित मिलेगा और श्रेष्ठ कवि वही होगा जो इस सम्पूर्ण अर्थ को व्यापक रूप से अपने काव्य में व्यक्त करने का प्रयास करेगा ।

कुछ विशेष कवियों की कविताएँ पढ़ते-पढ़ते ऐसा आभास मिलने लगता है कि वे कुछ ऐसे चुने हुए शब्दों वाली पदावली को प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं जो अर्थ की परिधि के अनुरूप विस्तार को नहीं

शब्दों की अक्षमता : मानती । ऐसा ज्ञात होने लगता है कि कवि का छायावाद तथा रहस्यवाद अभिप्रेत भावक्षेत्र विस्तृत है और शब्द छोटे पड़ का जन्म रहे हैं । यों तो प्रत्येक कवि इस बात का प्रयत्न करता

है कि वह उपयुक्त शब्द का प्रयोग करे और अपनी भावना विशेष को जाँच कर उनमें उसे व्यक्त करें ! जाँच करने पर मिलता है कि शब्द-जाल करते-करते नया कवि शब्दों पर किसी भी प्रकार से नियंत्रण कर ही नहीं पाता । ऐसे कवि की प्रायः यह भावनाएँ भी वैसी सम्पूर्णता के साथ उसके अममर्थ शब्दों में न तो चित्रित हो सकेंगी और न अपने पूर्ण रूप में ही आ सकेंगी । इस प्रकार की शब्दक अक्षमता अथवा अभाव रोमाण्टिक काव्य तथा रहस्यवाद अथवा छायावाद को जन्म देगा । ये कवि ऐसी भावनाओं द्वारा प्रेरित होंगे और ऐसी अनुभूतियाँ देना चाहेंगे जो हमारे पार्थिव जगत् से दूर किसी परी देश की अनुभूतियाँ होंगी । ये अनुभूतियाँ स्वतः ऐसी होंगी जो भाषा अथवा शब्द का बन्धन स्वीकार नहीं करेंगी । फलतः ऐसे कवि संकेतों द्वारा ही अभीष्ट सिद्धि पाना चाहेंगे । वे ऐसे शब्दों का प्रयोग करेंगे जो हमारे व्यावहारिक जगत् में नहीं प्रयुक्त होते और न वे इतने प्रचलित ही हैं कि काव्य के अन्तर्गत उनका अर्थ हम स्पष्टतः दृश्यंगम कर लें । इन कवियों के काव्य में प्रयुक्त संवेतात्मक शब्द हमारे सम्मुख मन के सहज भाव की एक सुदूर प्रतिच्छाया ही प्रस्तुत करते हैं । जिस प्रकार एक वाणीहीन बालक केवल अपनी तर्जनी को उठाकर अपनी अभिलषित वस्तु की ओर इशारा करता रहता है, उसी प्रकार शब्दों का नियन्त्रण तोड़ती हुई ये भावनाएँ उन अशक्त शब्दों के द्वारा अभिलिखित अर्थ अस्पष्ट रूप में प्रस्तुत करती हैं । कहना न होगा कि ये शब्द अपनी ध्वनि से ही पूरे अर्थ का बांध कराते हैं । एक कवि अपने शब्दों की ध्वनि से ही अर्थ-बोध कराता हुआ कहता है—

लाली मेरे लाल की, जित देखू तित लाल ।

लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल ॥

तो हम लाल शब्द के अर्थ की ओर आकृष्ट तो हो जाते हैं, परन्तु उसकी निस्सीम व्यापकता की ओर आकृष्ट होते हैं। आत्मा और परमात्मा के सम्पर्क की कहानी कवि इन शब्दों के संकेत द्वारा ही व्यक्त करने की चेष्टा करता है। यद्यपि 'लाल' और 'लाली' हमारे दैनिक प्रयोग के शब्द हैं फिर भी उनका संवत्त हमारे दैनिक अनुभव की वस्तु नहीं है। उनका संकेत आध्यात्मिक जगत् की ओर है जहाँ परमात्मा की लाली में अनेक आत्माएँ अपना रंग खाती हुई और परमात्मा का रंग ओढ़ती हुई चित्रित होंगी।

कवि जब शब्दों के उपर्युक्त संकेतात्मक अर्थ का ग्रहण करते हैं तब यह भ्रम हो सकता है कि कदाचित् वे पाठकों के ऊपर प्रभाव डालने के लिए यह विशेष पद्धति अपनाते हैं और यदि वे चाहते तो

असाधारण शब्दों का सामान्य प्रयोग कर सकते थे, परन्तु सच तो

शब्द-प्रयोग यह है कि कवि ऐसे शब्दों का प्रयोग जान-बूझकर

करते हैं क्योंकि उनको काव्य-रचना करते समय यह

आभास मिल जाता है कि साधारण शब्दों के माध्यम से अपनी असाधारण भावनाओं को व्यक्त करने में विफलता ही हाथ लगेगी। असाधारण भावना असाधारण अभिव्यक्ति की अपेक्षा रखती है और असाधारण अभिव्यक्ति, असाधारण शब्दों में यदि व्यक्त हुई तो उसमें आश्चर्य ही क्या ! कवि जब बहुत प्रयत्न करने पर भी ऐसे शब्द नहीं ढूँढ पाता जो उसके रहस्यपूर्ण भाव-संसार को प्रदर्शित कर सकें तो वह विवश होकर ही यह नूतन मार्ग अपनाता है और उसकी चेष्टा यही रहती है कि वह इतने संकेत देता जाय कि अन्त में उसका पूर्ण आशय यदि पूर्ण रूप में नहीं तो थोड़ा-बहुत आंशिक रूप में पाठकवर्ग अवश्य समझ लें।

उपरोक्त विवेचन से यह भ्रान्तिपूर्ण धारणा बन सकती है कि कुछ शब्द काव्य के संकेतात्मक अर्थ से भरपूर होंगे और कुछ उससे विहीन रहेंगे। ऐसा विचार करना भ्रामक ही नहीं बल्कि असत्य भी होगा। शब्द भाव से सर्वथा हीन और गद्यात्मक नहीं होते; उनका प्रयोग ही उन्हें वांछित भाव से पूर्ण बना देगा। कवि के हाथों में शब्द वैसे ही भावों से पूर्ण रहते हैं जैसे जौहरी की थैली में अनेक प्रकार के बहुमूल्य रत्न मिले-जुले खुनखुनाते रहते हैं। जौहरी रत्नों के मूल्य से परिचित होता है और कवि शब्द-शक्ति से परिचित रहेगा। उपयुक्त स्थल पर प्रयोग के द्वारा वह निर्जीव से निर्जीव शब्द में जान डाल देता है। कुशल कवि शब्दों की महत् शक्ति और उसमें निहित भाव-गाम्भीर्य को एक क्षण में ही उसी प्रकार परख लेता है जिस प्रकार एक

कुशल जौहरी रत्न को एक-दो बार उलट-पुलट कर ही उसका मूल्य जान लेता है ।

हाँ, इस सम्बन्ध में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कुछ शब्द ऐसे देखे जाते हैं जो स्वतः ही कर्ण-प्रिय होते हैं और उनसे मधुर ध्वनि निकला करती है और वे सहज ही काव्य की परिधि में आया शब्दों का बाह्य तथा करते हैं और लय तथा तुक की व्यवस्था में सहज ही आन्तरिक रूप घुल-मिल जाते हैं । परन्तु केवल शब्द के बाह्य रूप और ध्वनि पर ही कवि का ध्यान मूलतः नहीं रहता, वह उसके वास्तविक एवं आन्तरिक सौन्दर्य पर ही पहले-पहल मुग्ध होता है । उनका वास्तविक सौन्दर्य उनके अर्थ, उनके सुदूर संकेत, उनसे लिपटी व्यञ्जनाओं और भावनाओं में ही निहित रहेंगे और वे वही अर्थ, वही संकेत और वही चित्र प्रस्तुत करेंगे जो उनके स्वभाव में अन्तर्हित हैं । और इस परीक्षण के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुँचेंगे कि श्रेष्ठ कवि चाहे जिस रूप में भी लिखे, गद्य रूप में अथवा पद्य रूप में, वह जो भी लिखेगा उसमें प्रौढ़ता, पूर्णता, स्वाभाविकता तथा अनुरंजित करने की शक्ति छिपी रहेगी । जितनी ही सफल अभिव्यक्ति होगी उतना ही उसमें भाव-गाम्भीर्य रहेगा । जितने ही पूर्ण रूप में उस अभिव्यक्ति में भावनाओं का रूप निदर्शित अथवा समन्वित रहेगा उतना ही वह प्रभावशाली होगा ।

सामान्य कवि द्वारा प्रयुक्त शब्दों में कभी-कभी हमें ऐसे भावों के दर्शन होंगे जो जन-सामान्य अनुभूतियों से परे ही पूर्णतः रहेंगे और उनमें किसी भी मानवी भावना या अनुभूति का गाम्भीर्य नहीं रहेगा, वे केवल उतना ही अर्थ प्रदर्शित करेंगे जितना कि उनमें स्थित है । उनमें संकेतों का चित्रण नहीं के बराबर होगा । परन्तु ऐसे शब्द भी, श्रेष्ठ कवि द्वारा ऐसे सन्दर्भ में डाले जा सकते हैं जो उन्हें नवजीवन देकर सजीव बना देंगे । इसमें सन्देह नहीं कि कवि अपने मस्तिष्क द्वारा ही शब्दों का चुनाव करता है, उनका मूल्य समझता है, परन्तु उसका हृदय भी इस ओर से विमुख नहीं रहता—ज्योंही कोई शब्द-विशेष मस्तिष्क ने चुना हृदय में भी उथल-पुथल मच जायगी; उस शब्द विशेष में अनेक संकेत, उससे लिपटी हुई अनेक भावनाएँ, उसमें अनेक मार्मिक अनुभव-चित्र सहज ही साकार होने लगेंगे । और यह भी संभव है कि कवि अपनी प्रतिभा द्वारा ऐसे शब्द ढूँढ़ निकाले जो स्वयं इतने भावपूर्ण तथा संकेतपूर्ण हों कि उन्हीं पर समस्त कविता का आकर्षण और मूल्य निर्भर हो । उन्हीं

शब्दों के पीछे हमारे विशाल अनुभवों का कोष छिपा रहेगा; हमारे अनुभव और ज्ञान का समुद्र उसमें गंभीर और विस्तृत रूप में छिपे रह सकते हैं। यह भी संभव है कि कवि न तो किसी महान् सिद्धांत का प्रतिपादन और न किसी दर्शन-सम्बन्धी तत्त्व का विश्लेषण करे। वह यह सब साधारणतः कुछ भी न करे और केवल कुछ शब्दों की तालिका दे दे जो केवल वर्णनात्मक हों; किन्तु इससे शब्दों की श्रेष्ठता कम नहीं होगी। प्रायः कुछ कवियों का काव्य-रचना में यह उद्देश्य रहता है कि वे किसी महान् सत्य का विवेचन करें और अपनी उपाजित अनुभूतियों के योग से काव्य में किसी अनुभव विशेष का ही विश्लेषण करें। कतिपय कवि अपनी रचना में कुछ ऐतिहासिक चित्र खींचते अथवा यथार्थ घटनाओं के उल्लेख का यदि चाव हुआ तो वे केवल उनका वर्णनात्मक स्वरूप उपस्थित करने का प्रयास करते हैं जिनमें युग का समस्त इतिहास, युग की संस्कृति और सभ्यता एवं समस्त युग-जीवन का सम्पूर्ण चित्र सहज ही प्रस्तुत हो जाता है। जिस प्रकार इतिहास के पृष्ठ युग-जीवन की कहानी कह चलते हैं इसी प्रकार ये शब्द युग का हृदय अपने में अन्तर्हित किये, काव्य-संदर्भ में आते ही अपनी समस्त विधि पाठक के सम्मुख प्रस्तुत कर देते हैं। वास्तव में शब्द ही मानव-जीवन के सफल एवं गंभीर इतिहास-कार हैं और श्रेष्ठ कवि वही होगा जो भूतकाल को अपनी मुट्ठी में रखेगा। उसे इतिहास का यथार्थ उसी प्रकार उन्मुख रहता होगा जैसे उठता हुआ ज्वार पूर्णेन्दु की ओर उन्मुख रहता है और उसी से प्रेरणा ग्रहण करता है। शब्द इतिहास की गोद में ही खेल-कूदकर पनपते हैं; अपना विस्तार करते हैं और समर्थ होते हैं। जितने भी अनुभव भूतकाल शब्दों में नियंत्रित कर देगा उतना ही वह शब्द सजीव तथा प्रेरक होगा। शब्द भूतकाल के आँगन से ही अपना संवल ग्रहण करते हैं और वर्तमान के व्यवहारों में आकर आकर्षक तथा प्रेरणापूर्ण कहलाने के अधिकारी होते हैं।

कविता में शब्दों के महत्त्व को हृदयंगम करने और उन्हें पूर्णतया समझने के लिए भी स्मरण रखना चाहिए कि शब्द किसी एक अर्थ के घेरे में ही सीमित नहीं रहता और किसी एक अर्थ में ही उसका शब्द तथा ग्रहण करके हम किसी कवि के मनोवांछित अभिप्राय का मानवी अनुभव विश्लेषण नहीं कर सकेंगे। कविता में तो शब्दों की एक विशेष व्यंजना होगी, किसी विशिष्ट भाव का प्रदर्शन होगा और प्रत्येक शब्द भूतकाल का विशाल अनुभव समेटे होगा, प्रत्येक में मानवी अनुभवों का सागर होगा तथा काव्य में प्रयुक्त सभी शब्द कवि की आत्मा से

टकराते रहेंगे। जिस प्रकार सागर के वक्ष-स्थल से लहरें आ-आकर अपनी लपेट में अनेक वस्तुएँ सागर-तट पर ला देती हैं उसी प्रकार कवि के मानस-तट पर ये शब्द आ-आकर अपनी संचित अनुभूति, अपनी संचित प्रेरणा, अपने सुन्दर संकेत एकत्र किया करते हैं। ओर इन शब्दों में निहित अनुभूतियों, प्रेरणाओं एवं भावनाओं की शक्ति इतनी विशाल होती है कि कवि वर्तमान का प्राणी होते हुए उनका बोझ, उनकी प्रेरणा, उनका प्रवाह वहन नहीं कर सकता और वह वर्तमान से भागो युग में जा खड़ा होता है। जिस प्रकार पीछे की ओर झूले की पेंग जितनी ही खिंचती है वह उतनी ही गति के साथ आगे की ओर अग्रसर होती है, उसी प्रकार कवि जितना ही अपने गहरे अर्थ वाले शब्दों की प्रेरणा से भूतकाल की ओर खिंचता है उतना ही दूर वह भविष्यद् काल में जा पहुँचता है। इसी कारण कवि, केवल कवि ही नहीं, वरन् शब्दज्ञ ऋषि भी भविष्य-द्रष्टा के नाम से संवाधित हुआ है। शब्दों के अन्तरतम में छिपी हुई भावो युगों की झोंकी उन्हें सहज ही दिखलाई दे जाती है और वे उनका अन्तरतम में प्रविष्ट होकर भविष्य की आत्मा का भो साक्षात्कार करने में समर्थ होते हैं। भावी जीवन का सरल अनुमान कवि के लिए अत्यन्त सहज होता है और जो कवि जितने ही सफल एवं व्यापक रूप में शब्द का प्रयोग करने में समर्थ होगा वह उतना ही श्रेष्ठ भविष्य-वक्ता कहलाने का अधिकारी होगा। कवि के द्वारा प्रयुक्त शब्दों में भूत तथा भविष्य उसी प्रकार निहित रहते हैं जैसे तन्नी वाद्य के तारों में अन्तर्लोन सातों स्वर। इसी अनुभव के अनुसार जब कवि रसखान कहते हैं—

“ब्रह्म में ढूँढ्यो, पुरानन गानन, वेद ऋचा सुनि चौगुने चायन।

देख्यो सुन्यो कवहुँ न कितू वह कैसो सरूप औ कैसो सुभायन।

टेरत-हेरत हारि फिच्यो रसखानि बतायो न लोग लुगायन।

देख्यो दुन्यो वह कुंज कुटीर में बैठो पलोटत राधिका पायन ॥”

तो वे समस्त भारतीय आध्यात्मिक चिंतन की समष्टि इन चार पंक्तियों के शब्द विशेष में निहित कर भविष्य-वक्ता का स्थान ग्रहण कर लेते हैं। आध्यात्मिक चिंतन का मूलधार निराकारोपासना से लेकर प्रेमयोग की साकारोपासना तक की प्रगति का इतिहास वे हमारे अनुभव-क्षेत्र में ले आते हैं। आदिकाल से व्यक्ति ईश्वर की, जो उसका निर्माता एवं नियन्ता कहा जाता है, खोज में विक्षिप्त-सा घूमता है। ‘ब्रह्म’ की संज्ञा उसे ज्ञानालोक के शिखर पर बैठाकर छोड़ देती है और साधक उस आलोक में अपना पथ ढूँढ़ते-ढूँढ़ते थक जाता है

और अपना मानसिक औत्सुक्य एकत्र कर वेद-मंत्रों की ध्वनि में ईश्वर का साकार दर्शन करना चाहता है; इस मार्ग की असफलता उसे ऋचाओं तथा पुराणों की गाथाओं की ओर अग्रसर करती है और वह पुनः अपनी उत्सुकता, कुतूहल, आग्रह और साधना का सहारा लेकर “चौगुने” आग्रह से उसी मार्ग पर चलता हुआ सबसे अपने आराध्य का पता पूछता है और अन्त में हताश होकर जब लौटता है तब वह लताओं और झुरमुटों की दूर ओट में ईश्वर के दर्शन एक विचित्रदशा में करता है जो साकारोपासना एवं प्रेमयोग की अपूर्व श्रेष्ठता को घोषित करती है। “चौगुने चायन” में साधक की विशाल उत्सुकता तथा लक्ष्य-प्राप्ति की लालसा, ‘हारिफिरयो’ में उस औत्सुक्य एवं लालसा का शैथिल्य, ‘दुरयो कुंज कुटीर’ में भक्ति का संशयात्मक पुनर्जन्म तथा ‘बैठे पलोटत’ में अन्य मार्गों और साधकों के प्रति ईश्वर की अत्यन्त विरक्ति का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत हो जाता है। ‘बैठे पलोटत’ शब्दावली में जिस मूक व्यंग्य का संकेत है उसको हृदयंगम हम तभी कर पायेंगे जब हम उसका अर्थ ‘देरत-हेरत हारि फिरयो’ की पृष्ठभूमि में हृदयंगम करने की चेष्टा करेंगे। कहौं एक ओर दौड़ता-धूपता, टकरें मारता, मार्ग पूछता, स्वेदपूर्ण साधक और दूसरी ओर विरक्त ईश्वर जो ‘बैठे’ हैं, ‘पाँव पलोटत’ हैं और किसके, ‘राधिका’ के। कहौं तो ईश्वर की चरण-रज की खोज में विह्वल विक्षिप्त मानव और दूसरी ओर ‘कुंज-कुटीर’ में छिपे हुए दूसरों के पैरों की रज झाड़ते हुए ईश्वर ! निराकारोपासना की समस्त छलना, कष्ट और शैथिल्य और साकारोपासना तथा प्रेमयोग की शक्ति का जो चित्रण कवि ने किया उससे प्रमाणित है कि वह भूत और वर्तमान तथा भविष्य तीनों को अपनी मुट्ठी में रखता है और भविष्यद्वक्ता का स्थान सहज ही ग्रहण कर लेता है।

कवि की श्रेष्ठता इसी में रहती है कि वह हमारे अनुभव को शब्द-शक्ति-द्वारा अधिक प्रभावोत्पादक, अधिक गहरा तथा अत्यधिक संकेतपूर्ण बनाता है।

वह हमारे समस्त आध्यात्मिक क्षेत्र का पुनः मूल्यांकन करता कवि की श्रेष्ठता है; हमें प्रत्येक अनुभव की ओर आँख उठाने का आदेश देता है और प्रत्येक अनुभव का ऐसा हृदयग्राही चित्र प्रस्तुत करता है जो हमारे मानस-पटल पर सदा के लिए अंकित हो जाता है। वह अपनी दृष्टि इतनी पैनी और इतनी चुभती हुई रखता है कि कोई भी विशिष्ट अनुभव उससे परे नहीं जा पाता। यही कारण है कि वह हमारे अनुभवों के भविष्य की ओर संकेत करता है। सभी श्रेष्ठ साधकों ने ईश्वर-प्राप्ति के अनेक मार्गों का अनुसरण किया और सबने कुछ न कुछ अपने अनुभव

किये परन्तु वे अनुभव अस्पष्ट थे, मूक थे, वाणीहीन थे, और जब कवि ने उन्हीं अनुभवों को अपनी काव्य-दृष्टि से देखा तो उनमें एक नवीन स्फूर्ति आ गई, एक नवीन चेतना का संचार हुआ और अनुभव शब्द-शक्ति द्वारा एक अपूर्व सजीव चित्र में प्रस्तुत हुआ। कवि मानवीय अनुभवों का विशिष्ट चित्रकार है; वह उनको अधिक स्पष्ट तथा साकार किया करता है और काव्य-कला की श्रेष्ठता इसी में है कि कवि अपने शब्द-प्रयोगों द्वारा किन-किन उपक्रमों का प्रयोग करता है और कहाँ तक अनुभवों को अधिक से अधिक अभिव्यंजित करता है।

परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अनेक कवियों में यह शक्ति न्यूनाधिक मात्रा में ही रहेगी और इसका सरल कारण यह है कि जीवन को परखने, उसके यथार्थ को हृदयंगम करने तथा उसके प्रति आकृष्ट रहने में शब्दों का काव्या-हमारी तल्लीनता जितनी अधिक रहेगी उतनी ही सरलता तमक प्रयोग से हम शब्दों में शक्ति की प्राण-प्रतिष्ठा कर सकेंगे।

हमारे कुछ शब्द ऐसे होंगे जिनके शाब्दिक अर्थों में कोई शक्ति नहीं होगी और उनकी ध्वनि ऐसी होगी जिसको सुनते ही हमारी आँखों के सम्मुख अनेक आकर्षक चित्र नाच उठेंगे। कुछ शब्द ऐसे होंगे जिनके शब्दार्थ एवं ध्वनि के अतिरिक्त ऐसे लक्ष्यार्थ तथा संकेतार्थ होंगे जो हमारी स्मरण-शक्ति को तीव्रतर बनाकर अनेक नूतन तथा अप्रत्याशित चित्र खींच देंगे। कुछ शब्द ऐसे भी होंगे जिनके बहुल प्रयोग द्वारा कवियों ने उनमें नवीन शक्ति फूँक दी है और उनके अर्थ की एक नवीन परम्परा बन गई है; और वह परम्परा हमें किसी संदर्भ विशेष की ओर ले जायगी और उसका अर्थ अधिक स्पष्ट करेगी। यदि पाठक-वर्ग सुशिक्षित तथा साहित्य के पठन-पाठन में अपूर्व गति रखने वाला है तो उसे शब्दों के शब्दार्थ, लक्ष्यार्थ, संकेतार्थ तथा गूढ़ार्थ एवं परम्परागत प्रयोगों के बहुल अर्थों के एक साथ दर्शन होंगे और वह काव्य-शक्ति के अपूर्व उदाहरण उनमें देखेगा। और यदि पाठक में इतनी विशिष्ट प्रतिभा नहीं और वह साहित्य-साधना में संलग्न व्यक्ति नहीं, फिर भी वह किसी-न-किसी रूप में और किसी-न-किसी अंश में उसका आनन्द अवश्य उठायेगा। काव्य का रसा-स्वादन करने के लिए यह नितान्त आवश्यक नहीं कि पाठक उच्चकोटि का साहित्यिक हो। उसके लिए केवल इतना आवश्यक है कि पाठक जीवन के प्रति सतर्क है, जागरूक है, आकृष्ट है। उसका साहित्य-ज्ञान चाहे जितना भी कम क्यों न हो परन्तु उसमें यदि मानवी अनुभूतियों जागृतावस्था में हैं और

उसका अनुभव-क्षेत्र शुष्क एवं निर्जीव नहीं हो गया है तो वह इस आनन्द का समुचित अधिकारी होगा। इसका कारण यही है कि शब्दों और उनके अनेक संदर्भों में ही उनकी काव्य-शक्ति छिपी है और यदि वह उनके थोड़े बहुत संदर्भों से भी परिचित है तो भी वह काव्य का रसास्वादन कर लेगा। इसका दूसरा कारण यह है कि साधारणतः अनेक सरल शब्दों में ही काव्य-शक्ति निहित रहती है और अपरिचित तथा विलक्षण शब्द-प्रयोग अत्यधिक नहीं होते और सरल शब्दों से तो साधारण-से-साधारण पाठक-वर्ग तक परिचित रहता है। प्रायः इस संबंध में यह कहने में अत्युक्ति नहीं कि हम साधारणतः परिचित तथा सरल शब्दों की ओर से अधिक विमुख रहते हैं क्योंकि हम यह समझते हैं कि हम उनके अर्थ तो जानते ही हैं : उनमें नवीनता क्या होगी। इसके विपरीत हम यह समझते हैं कि अपरिचित तथा विलक्षण शब्द, क्योंकि उनका बहुल प्रयोग नहीं होता, अवश्य ही किसी-न-किसी अपूर्व काव्य-शक्ति के परिचायक होंगे। परन्तु काव्य-शक्ति को समुचित रूप में परखने के लिए हमें सरल शब्दों तथा परिचित शब्दों की ओर अधिक सतर्क रहना पड़ेगा; क्योंकि इन सरल शब्दों में, संदर्भ के कारण, अनेक संकेतार्थ तथा लक्ष्यार्थ छिपे रहते हैं और जब तक हम उन्हें भलीभाँति हृदयंगम नहीं करेंगे काव्य की पूर्ण शक्ति से परिचित नहीं हो पाएँगे। यही कारण है कि संसार की अनेक भाषाओं के श्रेष्ठातिश्रेष्ठ काव्य की पंक्तियाँ सरल से सरल तथा परिचित से परिचित शब्दावली का प्रयोग करती हैं और उन्हें अपूर्व काव्य-शक्ति से अनुप्राणित करती रहती हैं। श्रेष्ठ काव्य की शब्दावली में अपूर्व दैवी प्रेरणा निहित रहेगी और उसकी शक्ति का शाब्दिक विवेचन असंभव होगा।

शब्दों की श्रेष्ठातिश्रेष्ठ योजना तथा उनको बहुमुखी अर्थ से पूर्ण करने के पश्चात् कवि का प्रमुख कर्तव्य केवल यह रहेगा कि वह मानवीय अनुभव को पुनः क्रियात्मक रूप से साकार करे। जो भी अनुभव किसी को जहाँ कहीं भी हो, श्रेष्ठ कवि उन्हें अपनी शब्दावली में समेटकर पुनः एक नवीन, मूर्त तथा स्पष्ट रूप दे सकता है। और ज्योंही हम कवि की लिखी हुई पंक्तियाँ दुहराएँगे उस अनुभव का प्रत्येक अंश अत्यन्त गहरे रूप में हमारे अनुभव-क्षेत्र में आता जायगा और एक क्षण ऐसा आएगा जब हम कवि की इस क्रियात्मक शक्ति के साक्षीदार बनकर स्वयं कवि कहलाने के अधिकारी हो जायेंगे। श्रेष्ठ कवि वही होगा जो पाठक-वर्ग को अपने अनुभवों का सहज, सरल तथा श्रेष्ठ साक्षी-दार बनाएगा।

काव्य में शब्द प्रयोग के संबंध में यह नहीं भूलना चाहिए कि परिवर्तन-

शील समय और समाज द्वारा प्रयुक्त शब्द कभी-कभी अपने मूल अर्थ खो बैठता है और नवीन अर्थ ग्रहण कर लेता है; कभी-कभी मूल अर्थ शब्दों का में केवल थोड़ा-बहुत परिवर्तन हो जाता है और समयानुसार कल्पनात्मक थोड़ा-बहुत नवीन अर्थ का समावेश हो जाता है। फलतः प्रयोग ऐसी परिस्थिति में सतर्क पाठक यदि प्रयुक्त शब्द के निर्देशित अर्थ को हृदयंगम करेगा तो कविता उसे सहज ही प्रभावपूर्ण शत होगी और कवि के अनुभवों का वह सफल साक्षीदार बन जाएगा। इस दृष्टि से, संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि काव्य-शक्ति को पूर्णतः हृदयंगम करने के लिए हमें शब्दों में निहित सम्पूर्ण अर्थ अथवा निर्देशित अर्थ को ग्रहण करने की क्षमता होनी चाहिए। प्रायः हम यह समझते हैं कि काव्य को पूर्णतः समझने के लिए हममें आलोचना-शक्ति और आलोचक की प्रतिभा होनी चाहिए; परन्तु बात ऐसी नहीं है। काव्य के हृदय तक पहुँचने के लिए हममें निर्णयात्मक शक्ति अपेक्षित नहीं और न मानसिक प्रौढ़ता की ही अपेक्षा होगी।

काव्य का अर्थ-ग्रहण एक क्रियात्मक कार्य रहेगा; जो भी काव्य-मार्ग कवि अपना चुका है, उस पर हमें पुनः चलना पड़ेगा, हमें उसी की आँखों से देखना होगा; उसी के हृदय से अनुभव करना होगा। जिस प्रकार सीढ़ियों पर चढ़कर हम किसी अट्टालिका की सबसे ऊँची छत पर चढ़ जाते हैं और सूर्योदय का दृश्य हमें वहाँ से मनोहारी शत होता है, उसी प्रकार कवि अपनी कल्पना द्वारा काव्य-शिखर पर पहुँच कर हमें सौन्दर्यपूर्ण सूर्योदय के दृश्य देखने का आवाहन देता है। हमें कवि के मार्ग को पुनः अपनाना पड़ता है, दुहराना पड़ता है और तभी हम उस सुन्दर चित्र के देखने के अधिकारी हो सकेंगे। इस काव्यानुशीलन में हमें अपनी तर्कशक्ति अपेक्षित नहीं : अपनी कल्पना-शक्ति अपेक्षित होगी।

समाज-शास्त्र तथा दर्शन हमें यह बतलाता है कि व्यक्ति अपने चारों ओर स्थित वातावरण में रहता हुआ अपने अनुभव सँजोता है। जीवन की गति उसके वातावरण में, अनेक अनुभवों को संगृहीत करने का आवाहन देती है और व्यक्ति वातावरण तथा जीवन की गति की क्रिया-प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप अपना अनुभव-क्षेत्र विकसित करता चलता है। परन्तु इस अनुभव-क्षेत्र की एक सीमा होती है, वह इसलिए कि सभी पार्थिव स्थलों की सीमा अवश्य होगी। व्यक्ति का पार्थिव जीवन, संसार के पार्थिव जीवन से सीमित, मर्यादित तथा कुण्ठित रहता है। उसका अनुभव रह-रह कर पार्थिवता की बेड़ियों

ज्ञानज्ञाना देता है। और ऐसे ही क्षणों में हमें कवि तथा काव्य की आवश्यकता ज्ञात होगी। कवि अपनी तीक्ष्ण कल्पना की तलवार से पार्थिवता का बन्धन काटता चलता है; हमारे अनुभव-क्षेत्र की सीमा बढ़ती चलती है और हम कल्पना की शक्ति का सहारा पाकर मानसिक स्वस्थता प्राप्त कर लेते हैं। कवि अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा हमारा पार्थिव जगत् स्वतंत्र तथा सीमाहीन बनाएगा; हमारे जीवन के वातावरण को नित नूतन रूप में परिवर्तित तथा अनुरंजित करेगा और हमारा अनुभव-कोष अक्षय होता जायगा। इसीलिए कवि को स्रष्टा और द्रष्टा की उपाधि दी गई है और इन उपाधियों का वह सहज अधिकारी रहेगा।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होगा कि जब हम काव्य-शक्ति को हृदयंगम करने का प्रयास करेंगे तो हमें अपनी मानसिक अथवा तार्किक-शक्ति नहीं प्रयुक्त करनी पड़ेगी। पहले तो कवि द्वारा छोड़ी हुई काल्पनिक संकेत की डोरी पकड़ कर हमें काव्य-शिखर पर पहुँचना होगा, तत्पश्चात् हम अपनी मानसिक अथवा आलोचनात्मक शक्ति प्रयुक्त कर पाएँगे। मनुष्य पहले मनोवेग, मनोभाव तथा अनुभव एकत्र करता है। तत्पश्चात् तर्क तथा मानसिकता का सहारा ढूँढता है। उसी प्रकार पाठक को पहले अपनी क्रियात्मक शक्ति का प्रयोग कर काव्य-मार्ग का यात्री बनना पड़ेगा, तत्पश्चात् उसे मार्ग की कठिनाइयों, उसकी सीमाओं, उसकी न्यूनताओं को देखना होगा। पाठक को कवि पहले बनना पड़ेगा, आलोचक बाद में, और तभी वह काव्य की शक्ति को पूर्णतः समझ सकेगा और उसका आनन्द उठा सकेगा। आलोचक तो केवल यह प्रश्न पूछेगा कि क्या यह कविता अच्छी है? क्या उसके शब्द निर्देशित अनुभव को पूर्णरूपेण समझाने में फलप्रद हैं? क्या कवि का अनुभव ऐसा है कि हम उसके सहज साक्षीदार बन जाते हैं? और ये प्रश्न किसी भी रूप में हमें काव्य-शक्ति का अनुभव कराने में सफल नहीं होंगे। इनके उत्तर बिना जाने ही हम काव्य की आत्मा को परख सकते हैं। काव्य को पढ़ने के उपरान्त हम अपने से ही यह प्रश्न पूछेंगे कि क्या हमने कवि के शब्दों के सम्पूर्ण अर्थ को समझा? क्या हम उसके अनुभव को पुनः अपनाने में सफल हुए? यदि इन प्रश्नों के उत्तर ठीक हैं तो हम में कविता को परखने की श्रेष्ठ कला है। काव्य की श्रेष्ठता इसी में है कि वह काव्य है : उसमें काव्य-तत्त्व हम पहले देखेंगे; दर्शन तथा सिद्धान्त-तत्त्व बाद में। और जब तक काव्य सार्थक होगा, अनुभावित होगा, तब तक वह श्रेष्ठ तथा उत्कृष्ट होगा।

कुछ श्रेष्ठ आलोचकों की यह धारणा रही है कि काव्य-रचना के लिए

केवल नैतिक विषय तथा नैतिक आदर्श ही फलप्रद होंगे परन्तु थोड़े से विश्लेषण के उपरान्त यह विचार भ्रामक ज्ञात होगा। सच तो यह है कि यदि विषय अनैतिक अथवा लोक-रंजन से परे है परन्तु काव्यात्मक तत्त्वों से परिपूर्ण है तो हमें उसकी अपेक्षा होनी चाहिए। इसके विपरीत यदि कविता में नैतिकता तो कूट-कूट कर भरी है परन्तु काव्य-तत्त्व देखने को भी नहीं मिलते तो हमें वह रुचिकर न होगी। और यदि काव्य में काव्य के तत्त्वों के अतिरिक्त नैतिकता एवं लोक-सेवा की भावना भी गहरी है तो सोने में सुहागा वाली कहावत चरितार्थ होगी। संक्षेप में, सिद्धान्त रूप में हमें यही कहना पड़ेगा कि कविता में हमें काव्य-तत्त्वों की ओर ही आकृष्ट होना पड़ेगा जिसके मूलाधार शब्द और उसके बहुल प्रयोग रहेंगे। इसके अतिरिक्त जब कवि हमारी कल्पना-शक्ति को जाग्रत कर हमें अपने अनुभवों में हिस्सेदार बनाएगा और हम अपनी कल्पना-शक्ति के सहारे उसके अनुभवों में सहज रूप से साक्षीदार हो जाएँगे तब कवि, काव्य और पाठक तीनों का कल्याण होगा।

उपसंहार

पिछले पृष्ठों में हमने काव्य की परिभाषा बताते हुए यह सहज विचार प्रस्तुत किया था कि काव्य वही होगा जो कवियों द्वारा निर्मित होगा; और इसी तथ्य को हम इस रूप में भी कह सकते हैं कि काव्य एक कला है। परन्तु “आलोचना क्षेत्र” में कला के अर्थ के विषय में अनेक भ्रामक विचार फैले हुए हैं और कला शब्द के विभिन्न अर्थों के कारण अनेक आलोचनात्मक दोष भी आ गए हैं। पहले तो साधारणतः हमारे मस्तिष्क में कला और विज्ञान दोनों के सम्बन्ध में अनेक भ्रम फैले हुए हैं। प्रायः हम कला और विज्ञान दोनों को एक-दूसरे के विपरीत अर्थ में प्रयुक्त करते आए हैं। और यह परम्परा पाठशालाओं तथा विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों की विभिन्नता की परिचायक होती है। हमारे मस्तिष्क में दोनों शब्दों का विरुद्धार्थ इतना घर कर गया है कि हम दोनों में किसी भी प्रकार की समानता मानने का प्रस्तुत नहीं होंगे। साधारण रूप में विज्ञान हमारे प्रायोगिक जीवन से सम्बन्धित रहेगा और विज्ञानज्ञ का यह कर्तव्य होगा कि वह हमें उपयोगी ज्ञान दे और ऐसी शिक्षा का आयोजन करे जिसके द्वारा हम वस्तुओं की उपयोगिता अथवा अनुपयोगिता से पूर्ण परिचित हो जायँ। विज्ञानवेत्ता भौतिक और रासायनिक शास्त्र की शिक्षा के अन्तर्गत हमें प्राकृतिक वस्तुओं की उपयोगिता सिखलाएगा और यन्त्रवेत्ता हमारी व्यावसायिक प्रगति के

लिए अनेक उपयोगी यन्त्र बनाएगा । और इसके विपरीत कला हमें 'अनुप-योगी' अथवा 'निरर्थक' ज्ञान देगी जिसे हम साहित्यकारों की रचनाओं द्वारा प्राप्त करेंगे !!! इस संबंध में हम यह भूल जाते हैं कि वास्तविकता कुछ और ही है । सच तो यह है कि विज्ञान का उपयोगिता से कोई भी संसर्ग अथवा सहज सम्बन्ध नहीं । विज्ञान का कार्य तो केवल सिद्धान्त-निरूपण है और वह ज्ञान के सूक्ष्म स्तर पर ही रहेगा । उपयोगिता से किंचित् मात्र भी उसका सम्बन्ध नहीं; उसे भी एक प्रकार का भावात्मक दर्शन कहना चाहिए । इसके विपरीत स्थिति में भी कलाएँ हम सीखते हैं, ज्ञानार्जन से उनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं; वे तो हमें उपयोगी वस्तुएँ बनाने की क्षमता प्रदान करती हैं । परन्तु वे विषय जिनका अध्ययन हम विश्वविद्यालयों में करते हैं और जो कला-विभाग के अन्तर्गत रखे जाते हैं, उनका सम्बन्ध किसी-न-किसी रूप में उपयोगिता से अवश्य रहता है । इतिहास तथा भूगोल, दर्शन, समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र तथा साहित्य इत्यादि विषयों का चरम ध्येय यह है कि वे हमें जीवन-यापन के सिद्धान्तों तथा तत्त्वों में दीक्षित करें, हमें जीवन-यापन के सिद्धान्तों से परिचित कराएँ और हमारी मानवीय जीवन-यात्रा के सम्बल-स्वरूप रहें । उनका प्रमुख लक्ष्य सतत यही रहेगा कि वे हमें जीवन की सम्पूर्णता का परिचय दें और उसे प्राप्त करने के लिए हमें शिक्षित करें । वास्तव में कला शब्द-सम्बन्धी जो भ्रम फैला है वह कला शब्द के द्व्यर्थक होने के कारण ही है । आधुनिक व्यावसायिक युग में हमें कला, हस्तकला के रूप में दिखाई पड़ती है और हस्त-कला सिखलाने वाले विद्यालय इस अर्थ को प्रमाणित भी करते हैं और हम कला और शिल्पकला दोनों का अन्तर प्रायः भूल जाते हैं । शिल्प-कला के विद्यालय हमें ऐसी उपयोगी शिक्षा देते हैं जो हमारे शिल्प-ज्ञान को बढ़ाती है, जिसे प्राप्त करने के पश्चात् हम शिल्पकार बनते हैं । वह हमें अनेक उपयोगी वस्तुएँ बनाने की क्षमता प्रदान करती है और उसके द्वारा हम अनेक दैनिक उपयोग की वस्तुएँ बनाते हैं । यदि वास्तव में देखा जाय तो यह शिल्प-शिक्षा विज्ञान के अन्तर्गत ही रखनी चाहिए, क्योंकि वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर ही शिल्प-शिक्षा सम्भव होगी । उदाहरण के लिए लकड़ी से अनेक वस्तुओं का निर्माण कुछ विशेष वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर ही सम्भव होता है । उसमें गणित के अनेक सिद्धान्त प्रायोगिक रूप में प्रयुक्त होते हैं । उसी प्रकार कारीगर जब किसी भवन का निर्माण करता है तब वह कुछ वैज्ञानिक सिद्धान्तों को ही चूने-गारे के सम्मिश्रण तथा ईंटों को एक के ऊपर एक सजाने में प्रयुक्त करता है । विज्ञान और शिल्प दोनों में एक आन्तरिक

सम्बन्ध प्रमाणित मिलेगा ।

परन्तु इसके विपरीत जब हम किसी व्यक्ति को चित्र खींचते देखते हैं अथवा किसी मूर्तिकार को कोई मूर्ति बनाते हुए पाते हैं तो हम उन्हें शिल्पकार न कहकर कलाकार नाम से संबोधित करते हैं । कलाकार ललित कलाओं का निर्माता रहेगा । वह हमें संगीत, नृत्य, चित्र तथा काव्य से परिचित कराएगा और इसके विपरीत शिल्पकार अनेक दैनिक उपयोगी वस्तुओं का निर्माण करेगा । परन्तु इतना होते हुए भी शिल्पकार रह-रहकर कलाकार के क्षेत्र में आने की चेष्टा करेगा । उसका ध्येय उपयोगी वस्तु का निर्माण तो है ही किन्तु उसे इतने में सन्तोष नहीं होता; वह अपनी निर्मित उपयोगी वस्तु को सुन्दर भी बनाना चाहता है । चाहे वह काष्ठ-शिल्पकार हो अथवा स्तम्भकार, उपयोगी वस्तु बनाने के उपरान्त उसकी नैसर्गिक सौन्दर्य भावना उपयोगी वस्तु में सौन्दर्य लाने को अवश्य प्रेरित करती रहेगी । परन्तु इस सौन्दर्य-भावना का स्थान गौण होगा और उपयोगिता का प्रमुख । यदि हम कलाकार और शिल्पकार दोनों के कार्यों का सन्तुलित विवेचन करें तो हमें उनके साधनों और उनके साध्य दोनों पर अपनी दृष्टि रखनी होगी । शिल्पकार कुछ विशेष सीमाओं के अन्तर्गत कार्य करेगा; उसके साधन विशेष रूप में सीमित और नियन्त्रित होंगे और वह उन्हीं सीमाओं के अन्दर जैसे भी सम्भव होगा कार्य करेगा और इसके विपरीत कलाकार विशेष रूप में सीमित अथवा नियन्त्रित नहीं रहेगा; उस पर कोई बाह्य नियन्त्रण भी दृष्टिगत नहीं होगा । उदाहरण के लिए जब काष्ठ शिल्पकार कार्या-रम्भ करता है तब लकड़ी की लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई इत्यादि के बाह्य नियन्त्रण उसके हाथों को रोके रखते हैं । इसके विपरीत जब चित्रकार अपनी तूलिका से चित्र निर्मित करता है तब उसे किसी विशेष बाह्य नियन्त्रण का सामना नहीं करना पड़ता है । उसकी प्रतिभा तो इसी में है कि वह ऐसे रंग चुने और उन्हें इस रूप में सम्मिश्रित करे कि एक आकर्षक चित्र प्रयुक्त हो जाय । रंगों में स्वतः चित्र के निर्माण की शक्ति निहित है और कलाकार उस निहित शक्ति को स्पष्ट करता है । उसी प्रकार कवि शब्द की शक्ति को, संगीतज्ञ ध्वनि की शक्ति को और मूर्तिकार संगमरमर की शक्ति को स्पष्ट रूप देता है । कवि शब्द-शक्ति जितना अधिक स्पष्ट करेगा उतना ही उसका काव्य श्रेष्ठ होगा; चित्रकार रंगों की शक्ति की जितनी अभिव्यक्ति कर सकेगा उतना ही उसका चित्र महान् होगा । अतएव हम कलाकार से यह आशा रखेंगे कि वह अपने प्रयुक्त माध्यम में जितनी भी शक्ति निहित हो उसे पूर्णतः विकसित करे । अभिव्यक्ति

की तीव्रता, तीक्ष्णता, व्यापकता तथा पूर्णता के आधार पर ही हम ललित कलाओं की श्रेष्ठता तथा उत्कृष्टता की माप लगाने में सफल होंगे।

यदि निबन्ध के आदि रूप की विवेचना की जाय तो गद्य और गद्य की शब्द-शक्ति के विकास का अध्ययन आवश्यक होगा। जैसा निबन्ध का कि हम पहले संकेत दे चुके हैं, गद्य का विकास मानवीय आदि रूप सभ्यता के साथ-साथ और उसकी जटिलताओं की प्रगति के अनुकूल हुआ। दैनिक जीवन के आदान-प्रदान में केवल गद्य की अपेक्षा हुई, क्योंकि काव्य अथवा पद्य इस प्रकार के आदान-प्रदान के लिए नितान्त अनुपयुक्त प्रमाणित हुए। यद्यपि काव्य तथा पद्य में विचित्र शक्ति थी और उस शक्ति के द्वारा अद्भुत प्रेरणाएँ प्राप्त थीं फिर भी उसमें इतनी साधारणता न थी जो साधारण जीवन-यापन में लाभप्रद होती। यह भी सच है कि केवल काव्य अथवा पद्य के माध्यम द्वारा जीवन के कुछ ही पहलू व्यक्त हो सकते थे। इसलिए यह आवश्यक हो गया कि मनुष्य अपनी दिनचर्या के निर्वाह में एक ऐसे माध्यम का सर्जन करता जो इस प्रकार के प्रयोग में हितकर होता। फलतः गद्य का विकास, प्रयोग तथा अनेकरूपेण शैलियों का जन्म हुआ। और निबन्ध को हम गद्य की एक शैली कह सकते हैं।

आधुनिक काल में, विशेषतः गद्य के क्षेत्र में, इसकी शैलियों के नाम-करण का प्रश्न बहुत उलझा हुआ है। प्रायः साधारण व्यक्ति लेख, निबन्ध, प्रबन्ध, लघुकथा, स्केच, विवेचन, व्याख्या तथा विश्लेषण इत्यादि को एक-दूसरे का पर्याय समझते हैं। परन्तु शैली की दृष्टि से सब में विभिन्नता दृष्टिगत होगी और उसके प्रयोग में भी एकरूपता नहीं रहेगी। यदि हम निबन्ध के वंश-वृक्ष की साहित्यिक कल्पना करें तो हमें 'लेख' उसका आदि रूप मानना पड़ेगा। लेख के शाब्दिक अर्थ से भी—'जो लिखित हो' उसे यह स्थान देना उपयुक्त होगा। और लेख की वंशावली के अन्तर्गत हमें निबन्ध, प्रबन्ध इत्यादि को समुचित स्थान देकर उनकी परिभाषाएँ निर्मित करनी पड़ेंगी।

यदि ऐतिहासिक रूप में देखा जाय तो गद्य की आधुनिक शैलियों का उद्गम और विकास हमें लेख के अन्तर्गत ही मिलेगा। और निबन्ध इत्यादि उसके उपवर्ग मात्र रहेंगे। लेख शब्द यों भी बहुत व्यापक है और उसके अन्तर्गत गद्य की सभी शैलियाँ स्थान पाएँगी। परन्तु इसकी यह व्यापकता ही उसकी विशेष कठिनाई है जिससे वर्गीकरण में अपूर्व कठिनाई ज्ञात होगी; क्योंकि जब हम, सभी कुछ जो लिखा जाय, लेख नाम से सम्बोधित करेंगे

तो विभिन्नता का निर्देश कैसे होगा। फलतः लेख को मूल वृक्ष मानकर हम प्रबन्ध, निबन्ध, व्याख्या इत्यादि को उसकी विभिन्न शैलियों मानेंगे। प्रयोग की दृष्टि से यदि देखा जाय तो यह ज्ञात होगा कि प्रबन्ध, व्याख्या, विवेचन इत्यादि शब्दों का प्रयोग, कदाचित् निबन्ध के बहुत पहले हुआ है और साधारणतः एक ही विषय पर एक अथवा अनेक लेखकों द्वारा लिखित संकलन का नाम प्रबन्ध रखा गया। ऐसे संकलन विशेषज्ञों द्वारा ही संकलित किए जाते थे। एकही मूल विषय के अन्तर्गत अनेक उप विषयों का अध्ययन इस संकलन की मुख्य विशेषता थी। इसके विपरीत एक ही व्यक्ति द्वारा अनेक विषयों पर लिखित लेख अथवा संकलन को निबन्ध नाम मिला। और अनेक लेखकों ने इस क्षेत्र में अपूर्व सफलता पाई।

जैसा कि अनेक आलोचकों का मत है निबन्ध की परम्परा पश्चिमी लेखकों में बहुत पहले चली थी और हिन्दी-साहित्य में उसका अनुकरण उन्नीसवीं शती से प्रारम्भ हुआ। इस अनुकरण में अनेक क्षेत्रों से सहयोग प्राप्त हुआ जिसमें प्रमुख सहयोग पत्रकारों की लेखनी द्वारा प्राप्त हुआ। इसके साथ-साथ अंग्रेजी भाषा से अनूदित अनेक विषयों से सम्बन्धित रचनाओं से भी इसे प्रेरणा मिली।

अंग्रेजी लेखकों के निबन्ध-साहित्य के अध्ययन द्वारा यह स्पष्ट होगा कि निबन्ध-रचना के लिए कोई विषय अङ्गूता नहीं। जीवन के किसी भी पहलू, अनुभव के किसी भी स्तर, समाज के किसी भी अंग निबन्ध के विषय और व्यक्ति की किसी भी विशेषता पर सकल निबन्ध-रचना होती चली आई है। इस व्यापक विषय-चयन में लेखक का उत्तर-दायित्व बहुत बढ़ जायगा। यद्यपि लेखक के सम्मुख निबन्ध के विषयों का अथाह सागर लहराता है, फिर भी लेखक को उस अथाह सागर से ऐसे अभूतपूर्व मोती निकालने पड़ेंगे जिनकी ओर साधारण व्यक्तियों का ध्यान भी नहीं गया था। उसे साधारण से साधारण विषयों में असाधारणता के दर्शन कराने होंगे और इसी में लेखक की प्रतिभा विदित होगी।

निबन्ध-साहित्य-क्षेत्र में प्रायः यह भी देखने को मिलेगा कि अनेक लेखकों तथा विशेषज्ञों ने अनेक साहित्यिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक तथा अन्यान्य गम्भीरतम विषयों पर निबन्ध लिखे हैं। इन लेखकों के विषय कभी-कभी इतने गम्भीर और गूढ़ स्तर के हैं कि उन्हें साधारणतः निबन्ध की श्रेणी में रखना कदाचित् असंगत होना चाहिए। इसका कारण यह है कि इस कोटि के लेख विशेष अध्ययन मात्र हैं और उन्हें, विशेष अध्ययन, लेख अथवा विवेचन के

नाम से पुकारना ही संगत जान पड़ेगा। वास्तव में निबन्ध की आत्मा अपना पूर्ण विकास तभी पायेगी, जब कि विषय मौलिक हो और दृष्टिकोण असाधारण। निबन्ध-रचना में दृष्टिकोण और विषय दोनों का इतना अपूर्व समन्वय रहता है कि जिसकी व्याख्या करना सहज नहीं। हम कह भी चुके हैं कि लेखक कोई भी विषय चुनने के लिए स्वतन्त्र है। जीव-जन्तु जगत् से लेकर अध्यात्मवाद तक सभी उसकी परिधि में रहेंगे। परन्तु विषय की नूतनता अथवा मौलिकता अथवा असाधारणता ही निबन्ध-लेखक को आकृष्ट करेगी। वह अपने विषय को एक विचित्र अथवा आश्चर्यपूर्ण दृष्टि से देखेगा और उसे ऐसा रूप दे देगा जिसकी हमें कभी कल्पना भी न थी।

निबन्ध के विषय-चयन के सम्बन्ध में जहाँ लेखक को इतनी स्वतन्त्रता प्राप्त है, उतनी ही स्वतन्त्रता उसे अपने दृष्टिकोण के निर्माण में भी रहेगी। हाँ, जो सबसे महत्त्वपूर्ण गुण अपेक्षित होगा वह है लेखक की चिन्तनशीलता। लेखक में जितनी ही अधिक चिन्तनशीलता होगी, उतने ही हमें मौलिक दृष्टिकोण भी दिखलाई देंगे; क्योंकि गम्भीर चिन्तन मौलिकता का सहज जन्मदाता रहेगा। इसी मौलिकता का आश्रय लेकर लेखक भी चेतन-जगत् के विशाल अनुभवों का परिचय हमें देगा और कभी जड़ जगत् की असाधारणता का अनुभव हमें करायेगा। कभी वह जड़ जगत् पर चेतन का आरोप करेगा और कभी चेतन जगत् पर जड़ का आरोप। कभी वह रूपक का आश्रय लेगा, कभी उपमा का, कभी दृष्टान्त द्वारा अपने चिन्तन का विचित्र रूप हमारे सम्मुख रखेगा। किसी विषय के एक छोटे से अथवा उपेक्षित अंग का लेकर वह उस पर अपने चिन्तन द्वारा ऐसा भवन निर्माण करेगा जो हमें आश्चर्यान्वित कर देगा। निबन्ध-लेखक के इस प्रयास में यद्यपि हमें बाह्य-रूप में कोई सामञ्जस्य अथवा समन्वय चाहे दिखलाई न दे, फिर भी उसके अन्तरम में हमें एक विचित्र समन्वय अवश्य दृष्टिगत होगा।

कुछ पश्चिमी लेखकों^१ की निबन्ध-सम्बन्धी परिभाषाओं ने पाठकों के मन

-
१. अंग्रेजी के श्रेष्ठ लेखक और आलोचक डाक्टर जॉन्सन ने निबन्ध की परिभाषा बनाते हुए उसे [a loose sally of the mind, an irregular illdigusted piece, not a regular and orderly performance] कहा था, जिसके अर्थ यह हुए कि उन्होंने निबन्ध में तीन तत्वों का आभास पाया था—पहला तो यह कि उसका सम्बन्ध मानसिक चिन्तन से है, दूसरा उसमें गूढ़ समन्वय

में उसके स्वरूप तथा शैली के सम्बन्ध में अनेक भ्रामक विचारों का प्रसार कर दिया है।

कुछ आलोचकों का यह विचार है कि निबन्ध मूलतः बुद्धिजन्य अथवा विचार-जन्य होंगे। यह सिद्धान्त भी नितान्त भ्रामक^१ है। सच तो यह है

की अपेक्षा नहीं और तीसरा—उसमें लेखक की मानसिक कार्य-व्यवस्था सुव्यवस्थित नहीं रहेगी। इन तीनों तत्त्वों को भ्रामक रूप में समझकर कुछ हिन्दी के श्रेष्ठ आलोचकों ने भी उन्हीं के शब्दों को दुहराया और उनका अक्षरशः अनुवाद किया, जिससे वे निबन्ध की श्रेष्ठ परिभाषा बनाने में विफल रहे। वास्तव में डा० जॉन्सन स्वयं बड़े हठधर्मी आलोचक थे। यद्यपि उनका अध्ययन-क्षेत्र बहुत विशाल था, परन्तु उनके निजी दृष्टिकोण में हठधर्मी की मात्रा विशेष थी। वे रूढ़िवादी, परम्परावादी तथा यूनानी और रोमीय साहित्य से पूर्णतः प्रभावित थे। जिस काल में निबन्ध लिखे जा रहे थे, उसकी ओर जॉन्सन की न तो विशेष ममता थी और न उसके प्रति विशेष आकर्षण और उन्होंने अपने अनेक चलते-फिरते आकर्षक वक्तव्यों तथा व्याख्याओं द्वारा अनेक शब्दों और विषयों की परिभाषा बना डाली थी। वास्तव में डाक्टर जॉन्सन की परिभाषा का अर्थ यह है कि जिस प्रकार सागर के वक्षस्थल पर जल-पक्षी चंचु-प्रहार करके अपना मनोवांछित शिकार ढूँढ़ निकालते हैं, उसी प्रकार निबन्ध-लेखक अपने चिन्तनरूपी चंचु-प्रहार से अनेक मौलिक विषय ढूँढ़ लेते हैं। यह सच है कि उनमें किसी दार्शनिक अध्ययन अथवा गंभीर विवेचन के तत्त्व बाह्य-रूप में नहीं रहेंगे और उनमें बाह्य-सुव्यवस्था दृष्टिगत नहीं होगी, फिर भी यदि सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो जॉन्सन के समकालीन लेखकों—गोल्डस्मिथ, ऐडिसन, स्विफ्ट, स्टील आदि के निबन्धों में पूर्ण सुव्यवस्था दृष्टिगत होगी। एक ही विषय के अनेक अंगों पर उनकी चिन्तन-प्रणाली में हमें समन्वय के सहज दर्शन होंगे। जॉन्सन स्वयं रोमीय तथा यूनानी साहित्य के मूल सिद्धान्त-समन्वयवाद तथा पूर्ण सामञ्जस्य से पूर्णतः प्रभावित थे और जहाँ-जहाँ इस समन्वय के दर्शन उन्हें सरलता से नहीं हुए उसे उन्होंने शिथिल तथा अव्यवस्थित कह डाला।

१. यदि अंग्रेजी लेखक चार्ल्सलैम्ब, चेस्टरटन, लीकाक, प्रीस्टले इत्यादि के निबन्धों का अध्ययन किया जाय तो वे इस सिद्धान्त के अपवाद

कि जो निबन्ध हमें बहुत प्रिय है उनमें भावनाओं की प्रधानता है और तर्क-पूर्ण विचारों की न्यूनता। बौद्धिक तत्त्व वहाँ नहीं के बराबर मिलेंगे और मानवी भावनाओं का प्रसार ही हमें आकृष्ट करेगा। फलतः निबन्ध को हमें बौद्धिक अथवा मानसिक परिधि से निकाल कर परखना चाहिए।

निबन्ध, साधारणतः, अनेक शैलियों में लिखे गए हैं और लिखे जा सकते हैं परन्तु शैली जितनी गम्भीर होगी, उतनी ही वह निबन्ध की आत्मा से दूर रहेगी और जैसा हम स्पष्ट कर चुके हैं गम्भीर शैलियों में लिखे गए निबन्धों को हमें विशेषाध्ययन के ही नाम से पुकारना चाहिए। मूलतः हम निबन्ध को दो शैलियों में विभाजित करेंगे—वर्णनात्मक तथा भावात्मक। वर्णनात्मक शैली के अन्तर्गत हम उन सभी निबन्धों की गणना करेंगे जो किसी भी रूप में जीवन के किसी भी अंग का विवरण, वर्णन अथवा प्रदर्शन होगा और भावात्मक शैली के अन्तर्गत वे निबन्ध आएँगे, जो मुख्यतः मानवीय भावनाओं से ओत-प्रोत रहते हुए मार्मिक रूप में हमें आकर्षित करेंगे। इन्हीं दो शैलियों के अन्तर्गत हम विषय-चयन के आधार पर अनेक शैलियों की कल्पना कर सकते हैं। परन्तु इस उप-विभाजन में हमें सतर्क रहना अत्यन्त आवश्यक होगा, क्योंकि बहुत-सी रचनाओं को हम भ्रामक रूप में निबन्ध नाम से पुकारते चले आ रहे हैं।

निबन्ध के साधारण तत्त्वों की यदि विवेचना की जाय तो उसका प्रमुख गुण सरलता रहेगा। जितनी ही सरलता उसमें रहेगी, उतना ही निबन्ध आकर्षक होगा। और यदि पाठक को इस बात का आभास मिला कि लेखक अत्यन्त गूढ़ गम्भीर विचारों का बोझ लिए उनके सम्मुख आ रहा है तो वे उसके आकर्षण से विलग रहेंगे।

सरलता के साथ-साथ प्रत्येक निबन्धकार को स्वाभाविकता का गुण अपनाना चाहिए। निबन्ध में जितनी अधिक स्वाभाविकता होगी, उतना ही अधिक उसमें चुम्बक-सा आकर्षण होगा। प्रकृति-प्राङ्गण में सहजरूप में बिखरे हुए काँटे और सूखी टहनियाँ भी हमें विचित्ररूप में आकर्षित करती हैं और रोमांचक भावनाएँ ले आती हैं, उसी प्रकार निबन्ध-लेखक शुष्क विषय लेकर भी अपनी स्वाभाविक शैली द्वारा रोमांचकता का प्रसार कर सकते हैं। स्वाभाविकता निबन्ध का मूल आभूषण रहेगा।

प्रमाणित होंगे। बालकृष्ण भट्ट तथा मुख्यतः प्रतापनारायण मिश्र के निबन्ध भी बहुत कुछ अंश में अपवाद सिद्ध होंगे।

परन्तु सरलता तथा स्वाभाविकता तभी अपने पूर्ण विकास पर रहेगी, जब लेखक के निबन्ध में अर्थ की स्पष्टता अपनी पूर्णता पर हो। निबन्ध की भाषा और उसके भाव जितने ही सुस्पष्ट होंगे, उतने ही हृदयग्राही रहेंगे। जटिलता, रहस्यपूर्णता, द्व्यर्थकता इत्यादि निबन्ध की आत्मा के घातक सिद्ध होंगे। गद्य का, यों भी स्पष्टता सहज गुण रहेगा और इसी गुण के कारण गद्य की उपयोगिता काव्य से कहीं अधिक रहेगी।

श्रेष्ठ निबन्धकारों की रचनाओं द्वारा यह विदित होता है कि उन सब में अपने व्यक्तित्व के प्रदर्शन की अभूतपूर्व आकांक्षा रहती है। उनका व्यक्तित्व भी इतना आकर्षक तथा मानवतापूर्ण होता है कि हमें उनकी इस आकांक्षा पर क्षोभ नहीं होता। वे अत्यन्त निष्कपट रूप में हमारे सम्मुख आते हैं, हमारी भावनाओं से अपनी भावनाओं का साम्य बैठाते हैं, मित्र रूप में हमसे संवाद कर अपने सुख-दुख का भागी बनाते हैं और ऐसा कभी नहीं होता कि वे हमारे ऊपर किसी प्रकार का बोझ अथवा कृतज्ञता का भार रखें। इस व्यक्तित्व-प्रदर्शन में कभी वे वक्रोक्ति, कभी उपहास, कभी परिहास^१ का सहारा लेंगे। परन्तु सबसे आश्चर्य पूर्ण बात यह होगी कि वे स्वयं ही अपने को व्यंग्य, उपहास अथवा परिहास का विषय बनाएँगे। जितने ही परिहासपूर्ण दृष्टिकोण से वे अपने को देखेंगे, जितने ही उपहासात्मक दृष्टि से अपनी कमजोरियों अथवा न्यूनताओं का वर्णन अथवा विवेचन करेंगे, उतना ही वे हमारे हृदय के समीप आएँगे।

प्रायः बहुत से निबन्ध-लेखकों में हमें पुराने युगों के जीवन के प्रति एक विचित्र आकर्षण दिखलाई देगा। आधुनिक जीवन की जटिलता में, उसकी अमानुषिकताएँ, उसके द्वन्द्व तथा विषमताएँ उन्हें नहीं भातीं और वे पुराने युगों की मानवता, सहन-शीलता, प्रेम तथा सौहार्द, सरलता तथा निष्कपटता, अन्यान्य मानवीय गुणों की ओर लालायित होकर देखते रहते हैं और उसी रंगीन दुनियाँ में हमें भी साथ चलने का आग्रह करते हैं। वे जीवन में साम्य के आदर्श के पुजारी रहते हैं और उच्छृङ्खलता, विच्छृङ्खलता तथा जटिल जीवन के घोर विरोधी रहेंगे। संक्षेप में प्रत्येक श्रेष्ठ निबन्धकार की श्रेष्ठता का निर्णय सरलता, स्वाभाविकता, स्पष्टता, निष्कपटता, मौलिकता, मानवीयता, सहिष्णुता के विशिष्ट आधार पर ही होना चाहिए।

समालोचना

(१)

काव्य के अध्ययन के सम्बन्ध में जब हमने यह सिद्धान्त रूप में निश्चित कर लिया कि पाठक-वर्ग को काव्य का रसास्वादन करने के लिए केवल यह आवश्यक है कि वे उसे कवि की दृष्टि से पढ़ें और आलोचक समालोचना का स्थान न ग्रहण करें तो हमने पाठक के ऊपर एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व रख दिया। वह उत्तरदायित्व यह था कि क्षेत्र पाठक, क्रियात्मक रूप से काव्य को पढ़ेगा, उसमें प्रयुक्त शब्दों के शब्दार्थ, संकेतार्थ तथा ध्वनि और लक्ष्यार्थ को पूर्णरूप से समझ कर कवि के सम्पूर्ण अनुभवों को दुहराएगा और अपनी कल्पनाशक्ति के सहारे वह कवि के अनुभवों का साक्षीदार बन कर स्वयं कवि का स्थान ग्रहण कर लेगा। और जब कभी पाठक किसी भी कवि की कोई भी कविता पढ़ेगा तो उसे इसी उत्तरदायित्व का पूर्णरूप से निर्वाह करना पड़ेगा। परन्तु इस उत्तरदायित्व का पूर्णरूप से निर्वाह करने के उपरान्त उसके सम्मुख कुछ अन्य आवश्यक प्रश्न उठ खड़े होंगे। उदाहरण के लिए पाठक ने तुलसी, कबीर तथा रहीम की रचनाओं से तीन दोहों का अध्ययन किया, उनमें प्रयुक्त शब्दों के सम्पूर्ण अर्थ को ग्रहण किया और कवि के समस्त अनुभव को अपने मानस में दुहरा कर वह उनके अनुभवों का साक्षीदार बन गया। अब वह अपने से यह प्रश्न पूछेगा कि इन तीन दोहों में, तुलनात्मक रूप में, कौन-सा अधिक काव्यपूर्ण है ? कौन-सा अधिक आकर्षक है ? और कौन-सा अधिक मूल्यवान् है ? और इस प्रश्न के पूछते ही वह सहज ही काव्य-क्षेत्र से आलोचना-क्षेत्र में पदार्पण करेगा, और यह प्रश्न स्वाभाविक भी है; क्योंकि अनेक कवियों तथा कलाकारों की रचनाओं के अध्ययनोपरान्त हममें उपरोक्त कुतूहल उत्पन्न होता रहता है और हम अपनी पढ़ी हुई रचनाओं की तुलनात्मक श्रेष्ठता का निर्णय करना चाहते हैं। पाठकवर्ग का यह कार्य आलोचना-क्षेत्र का कार्य होगा और इस कार्य-व्यापार का दिग्दर्शन आगे किया जायगा।

कुछ विचारकों की यह धारणा रहती है कि जब हम अनेक कविताओं की तुलनात्मक श्रेष्ठता का निर्णय करना आरम्भ करें तो उन कविताओं में प्रतिपादित नैतिकता, आध्यात्मिक आदर्श तथा सामाजिक सत्यों को भी समालोचना का लक्ष्य ध्यान में रखें। हमें सतत यह ध्यान रखना होगा कि कविता में, कवि ने नैतिकता के किस सिद्धान्त-विशेष का प्रतिपादन किया है, उसमें कौन-से आध्यात्मिक आदर्शों की ओर

हमारा ध्यान आकृष्ट किया है और सामाजिक जीवन के किस विशिष्ट सिद्धान्त को महत्त्वपूर्ण बतलाया है। और जब हम कवि के इन विभिन्न सिद्धान्तों से पूर्णतः परिचित हो जायेंगे तभी हम आलोचना का कार्य कर सकेंगे, परन्तु यह विचार अत्यन्त भ्रामक है। वास्तव में आलोचक का यह कार्य है ही नहीं। आलोचक को तो कविता के काव्य-रूप को परखना चाहिए। उसका धर्म केवल यह है कि वह अनेक कविताओं के काव्य-रूप की तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत करे; उन्हें कविता के गुणों की दृष्टि से देखे। आलोचक का यह कार्य साहित्यालोचन कहलाएगा। साहित्यालोचन साहित्यिक अध्ययन के अनुभवों का विश्लेषण करेगा; वह कविता के प्रभाव का विवेचन करेगा और उन गुणों का अनुसन्धान करेगा जिसके द्वारा कविता हमारे ऊपर वाञ्छित प्रभाव डालने में सफल हो रही है। उसके अनुसन्धान का प्रमुख लक्ष्य यही रहेगा कि कविता अपने किन गुणों के कारण हमको पूर्णतः प्रभावित कर रही है और श्रेष्ठ आलोचना वही होगी जो हमें काव्य के गुणों से अवगत कराएगी और उस ओर हमें जागरूक रखेगी। साहित्य-समालोचना साहित्यिक जागरूकता की सतत प्रेरक रहेगी।

उदाहरण के लिए जब हम कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ—

(१)

‘वह उर-प्रदेश प्रियतम का,
जब मैंने जीत लिया था।
अपने ही कर से प्रिय ने,
मेरा अभिषेक किया था ॥

(२)

सीमित है इसी परिधि में,
मेरे जीवन की आशा।
इसके नन्हें से उर में,
सोती कितनी अभिलाषा ॥

(३)

यह लगी भाल पर मेरे,
विधि-कर की अरुण-निशानी।
यह लिखी मूक भाषा में
मेरी सौभाग्य - कहानी ॥’

दुहराते हैं तो हम कलाकार के सहज अनुभव को भी साथ-ही-साथ अपने मानस में दुहराते हैं। परन्तु यह समस्त कार्य हम अव्यक्त रूप में ही करते हैं। जिस प्रकार दर्पण के सामने दूर से आती हुई सुन्दरी पास आते ही अपना सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब दर्पण में व्यक्त कर देती है, उसी प्रकार कविता की पंक्तियाँ पढ़ते-पढ़ते हमारे मानस-पटल पर कलाकार के निहित अनुभव पुनः साकार हो उठते हैं और हम यह नहीं जान पाते कि यह सब क्योंकर और कैसे सम्भव हुआ। किसी अव्यक्त रूप में काव्य-सौन्दर्य हमारे मानस-पटल पर अंकित हो जाता है और हम उसमें खो जाते हैं। जिस सहज तथा सरल रूप में काव्य हमको प्रभावित कर हमें कवि के अनुभवों का साक्षीदार बना देता है, उसका मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि हम मनुष्य होने के नाते दूसरे व्यक्ति से सहज ही नाता जोड़ सकते हैं और जब कवि ने किसी गहरी अनुभूति की कहानी आरम्भ की तो हम भी बालमुलभ विश्वास तथा काल्पनिक सहानुभूति द्वारा उसकी ओर निर्निमेष हो देखने लगते हैं। कवि शब्दों के प्रयोग द्वारा हमें मन्त्रमुग्ध कर देता है और हम उसके अनुभव-रज्जु से बँधे हुए उसके पीछे-पीछे चल पड़ते हैं। उस समय हम उससे कुछ नहीं पूछते; कुछ पूछना चाहते भी नहीं; हम केवल वही चाहते हैं जो बाणों से बिंधा हुआ बीन के स्वर से मन्त्रमुग्ध मृग चाहता है :

“जब तक तन में प्राण हैं
बीन बजाए जाहु।”

परन्तु यह मन्त्रमुग्ध दशा कभी भी सम्पूर्ण नहीं हो पाती; शब्दों के प्रभाव को पूर्णतः ग्रहण नहीं कर पाते; मन्त्रमुग्ध होते हुए भी हमारी आँख कभी-कभी खुलती रहती है और पूर्ण विस्मरणशीलता हम पर नहीं आती। और ऐसी मानसिक दशा जो साधारणतः प्रस्तुत होती रहती है हमें इस पर बाध्य करती है कि हम कविता को आलोचनात्मक रूप में पढ़ें और जो-जो अनुभव संभवतः हमें हो चुके हैं उन्हीं के सहारे जो कुछ अनुभव छूट गए हैं, उन्हें भी समेट लें। पठन-पाठन की शीघ्रता तथा उसकी गति हमें केवल अत्यन्त शक्ति-पूर्ण शब्दों के अर्थ से प्रभावित तथा प्रेरित करती रहती है : अनेक छोटे-छोटे शब्द अपने अनेक अस्पष्ट अथवा सुस्पष्ट संकेत लिए पीछे छूट जाते हैं और हम उनकी ओर से विमुख होकर शक्तिपूर्ण शब्दों की ओर ही अधिक आकृष्ट होते रहते हैं। ऐसी दशा में, आलोचना हमारी सहायता करती है। बिजली के लट्टुओं की जगमग-जगमग झालर जो, किसी आयोजन के अवसर पर अट्टालिकाओं

को घेरे रहती है, तेज लट्टुओं की चकाचौंध में छिप सी जाती है। तेज चकाचौंध लाने वाले ये प्रकाशकेंद्र हमारी आँखों में ऐसे समा जाते हैं कि हमारी आँख इधर-उधर उठती ही नहीं, परन्तु थोड़ी देर में जब चकाचौंध दूर हो जाती है तो जगमग झालरों का मधुर प्रकाश धीरे-धीरे अपना आकर्षण अनावरित करने लगता है और हम सम्पूर्ण प्रकाशित वातावरण के सामंजस्यपूर्ण सौन्दर्य को पुनः सुस्थिर रूप में देखने लगते हैं। सत् समालोचना साहित्य-मार्ग को प्रकाशवान् बनाएगी।

उपरोक्त विवेचन के अनुसार जब हम निम्नांकित पंक्तियाँ—

“वह उर-प्रदेश प्रियतम का,
जब मैंने जीत लिया था।
अपने ही कर से प्रिय ने,
मेरा अभिषेक किया था ॥”

दुहरायेंगे तो संभव है कि एकाएक हमारे मानस-पटल पर ‘उर-प्रदेश-विजय’ का समस्त अर्थपूर्ण चित्र चित्रित न हो पाए; संभव है कि हम केवल शाब्दिक तुकों—‘लिया था’, ‘किया था’, से प्रभावित हों और ‘अभिषेक’ तथा ‘अपने ही कर’ के पूर्ण संकेतार्थ न समझ पायें। यह भी संभव है कि जब हम दूसरा छन्द—

“सीमित है इसी परिधि में,
मेरे जीवन की आशा।
इसके नन्हें-से उर में,
सोती कितनी अभिलाषा ॥”

दुहराएँ तो संभव है कि हमें ‘परिधि’, ‘कितनी’, ‘नन्हें’ ऐसे शब्दों के पीछे जो मनोवेगों और भावनाओं की तरल तरंगें नाच रही हैं, हमारे मानस को अभिषिक्त न कर सकें। यह भी संभव है कि हम अगले छन्द की शब्दावली—‘अरुण निशानी’, ‘मूक भाषा’, ‘सौभाग्य-कहानी’ में निहित भारतीय नारी-जीवन की परम्पराओं पर दृष्टिपात न कर सकें। और ऐसी दशा में आलोचना हमारी सहायता करेगी। वह इन उपरोक्त शब्दों में निहित अर्थ, संकेतार्थ, लक्ष्यार्थ इत्यादि को स्पष्ट करेगी, अनुभवगम्य बनाएगी, हमें कवि के हृदय के भाव तक ले जाएगी। वह हमारे अनुभवों की सहज पूरक रहेगी। परन्तु हमें ध्यान में यह रखना आवश्यक होगा कि हमारे लिए काव्य का

क्रियात्मक पठन-पाठन अधिक महत्वपूर्ण रहेगा और उसे ही हम किसी भी साहित्य-साधना में प्रमुख स्थान देंगे। आलोचनात्मक पठन-पाठन का स्थान गौण रहेगा। आलोचना का गौण प्रयोग हम इसीलिए करेंगे कि वह हमारी अनुभूति को सम्पूर्णता प्रदान करेगी; काव्य की बहुमुखी प्रेरणा का दर्शन कराएगी और हमारे क्रियात्मक पठन-पाठन को तीव्र तथा विस्तृत बनाएगी। राजमार्ग पर मन्दगति से चलता हुआ अश्वारोही एक छोटे से इशारे से मन्दगति को तीव्रगति में परिवर्तित कर देता है, उसी प्रकार साहित्यमार्ग पर मन्दगति से चलते हुए पाठक की अनुभूति की गति, आलोचना अपने छोटे से इशारे से तीव्र तथा तीक्ष्ण बना देगी और काव्याध्ययन का प्रमुख लक्ष्य यही है कि कवि की रचना के प्रति हमारी अनुभूति जागृत हो, हम कवि के निर्देशित लक्ष्य तथा अर्थ को ग्रहण कर लें और अन्त में उसके अनुभवों के सहज साक्षी-दार बन जायें। यदि आलोचना हमारी काव्यानुभूति को तीव्र नहीं करती, यदि वह हमें कवि की अनुभूतियों को पूर्णतः अवगत नहीं कराती और यदि वह हमारी सहायक नहीं होती तो वह महत्त्वहीन रहेगी।

काव्य के पठन-पाठन में साधारणतः यह होता है कि ज्योंही हम किसी कविता का अध्ययन समाप्त करते हैं, हम यह जानने की चेष्टा करते हैं कि वह कविता किस वर्ग की है : उसे किस नाम से संबोधित किया

काव्य का वर्गीकरण जाय और उन नामों के अंतर्गत हम कविता में कौन-से गुणों अथवा विषय की अपेक्षा करें। साधारणतः पाठकवर्ग ने कविता के मूल-वर्ग के अन्तर्गत, अनेक विशेषताओं के आधार पर अन्य उपवर्गों का निर्माण कर लिया है और जब वे काव्य पढ़ते हैं तब उन्हें यह स्पष्ट ध्यान रहता है कि वे काव्य के किसी विशेष उपवर्ग का अध्ययन कर रहे हैं। फलतः वे महाकाव्य पढ़ते हैं; गीत गुनगुनाते हैं; खण्ड-काव्य का अध्ययन करते हैं। काव्य के उन उपवर्गों के आधार विषय तथा शैली रहेंगे।

यह एक मान्य साहित्यिक सिद्धांत है कि समस्त साहित्य का मूलधार अभिव्यंजना है। अभिव्यंजना की कला ही साहित्य का निर्माण करती है और इसी कला के कारण साहित्य को अमरत्व प्राप्त होगा। प्रत्येक **अभिव्यंजना** साहित्यकार, जो साहित्य का निर्माण करेगा, **अभिव्यंजना** की **तथा शैली** कला को अपनाएगा और उसकी विशेष अभिव्यंजना उसे अनेक दूसरे लेखकों से पृथक् करेगी। लेखक जो कुछ भी लिखेगा उसकी निजी अभिव्यंजना की छाप उस पर होगी। उसका अध्ययन,

उसकी साधना, उसका अनुभव, उसका भाषा-ज्ञान, उसकी मानसिक क्षमता, इत्यादि उसे विशेष प्रकार की अभिव्यंजना अपनाने पर बाध्य करेंगी। लेखक अथवा साहित्यकार जो कुछ भी कहना चाहेगा अपने विशेष ढंग पर कहेगा; वह एक विशेषरूप की मनोनुकूल अभिव्यंजना प्रयुक्त करेगा और साहित्यकार की मनोनुकूल अभिव्यंजना शैली को जन्म देगी। वास्तव में अभिव्यंजना का ही दूसरा रूप शैली कहलाएगा और जैसे-जैसे अभिव्यंजना की विशेषता बढ़ती जायगी वैसे ही वैसे अनेकरूपी शैली का जन्म होता जायगा।

परन्तु इस शैली की श्रेष्ठता का माप क्या होगा? साधारण रूप में यह कहा जा सकता है कि वही शैली श्रेष्ठतम होगी जो अभिव्यंजना का कार्य अत्यन्त विशिष्टरूप में करेगी। अथवा यों कहिए कि जो शैली स्पष्ट से स्पष्ट रूप में कलाकार के विचारों को व्यक्त करेगी, श्रेष्ठ होगी। परन्तु इस दृष्टि से तो विज्ञान तथा गणित के सूत्र अथवा विधियाँ उत्कृष्ट शैली के उदाहरण प्रस्तुत करेंगी। वास्तव में शैली की श्रेष्ठता का निर्णय इतना सरल नहीं; और इस कठिनाई की ओर हम अस्पष्ट संकेत दे भी चुके हैं। जब हम सिद्धान्तरूप में यह निश्चित कर चुके कि शैली की श्रेष्ठता अर्थ की स्पष्टता अथवा अभिव्यंजना शक्ति पर निर्भर रहेगी तो हम सहज ही यह प्रश्न पूछेंगे कि वह कौन-सा अर्थ है जिसे शैली स्पष्ट करे? क्या वह कलाकार द्वारा प्रयुक्त शब्दों के सर्वांगीण अर्थ में स्पष्ट कर सकेगी और यदि वह यह करे भी तो भला हम यह कैसे कह सकते हैं कि कलाकार का यही वाञ्छित अर्थ था। जैसा कि हम स्पष्ट कर चुके हैं, शब्दों में तो अनेक अर्थ निहित रहते हैं और कलाकार उनमें किसी एक की ओर अथवा कुछ-एक की ओर ही अधिक उन्मुख रह सकेगा। ऐसी परिस्थिति में हम शैली की श्रेष्ठता का निर्णय कैसे कर सकेंगे?

कलाकार की भाषा तथा शैली और विज्ञानज्ञ की भाषा तथा शैली में यही प्रमुख अन्तर है कि कलाकार की भाषा तथा शैली में अनेक अर्थ-संकेत निहित रहेंगे; उसका अर्थ-कोष विभिन्नतापूर्ण तथा आकर्षक एवं रोचक होगा। परन्तु विज्ञानज्ञ की भाषा-शैली में स्थायित्व, पूर्णता, अभिन्नता रहेगी। जो कुछ भी अर्थ उसने अपने विभिन्न शब्दों में निहित कर दिए, उनके अतिरिक्त उसमें किसी अन्य अर्थ की न तो अपेक्षा होगी और न यह संभव ही होगा। देश-विदेश के सभी विज्ञानज्ञ उसमें एक ही अर्थ का दर्शन करेंगे और सबको वह समान-रूप से एक ही अर्थ का निर्देश देंगे। इस तथ्य का सरल कारण यह है कि विज्ञानज्ञ मूलतः यथार्थ निरूपण करता है; जो कुछ भी

हमारे तर्क तथा मस्तिष्क से संबंधित है वही उसका कार्य-क्षेत्र है; वह किसी अन्य कार्य-व्यापार की अपेक्षा भी नहीं करता। इसके साथ-साथ प्रत्येक देश-विदेश के विज्ञानज्ञ अपने वैज्ञानिक प्रयोगों, उन प्रयोगों के फल इत्यादि पर हर-एक के प्रयोगों को जानने का प्रयत्न करेंगे और प्रत्येक के फल पर अनुसंधान करेंगे। इसीलिए यह आवश्यक हो जायगा कि जो भी भाषा, शब्द तथा शैली विज्ञानज्ञ प्रयुक्त करें वह ऐसी हो जिनके अर्थों में न तो विभिन्नता हो और न किसी प्रकार का संशय। और यदि किसी प्रकार की विभिन्नता अथवा संदेह का जन्म हुआ तो यथार्थ सत्य का अनुसंधान देश-विदेश में असंभव हो जायगा और सामूहिक रूप से विज्ञान-ज्ञान की प्रगति नहीं हो पाएगी। उदाहरण के लिए, गणित के क्षेत्र में योग, गुणन तथा विभाजन के कुछ स्थायित्वपूर्ण नियम हैं जो सभी गणितज्ञों को मान्य हैं और प्रत्येक उनसे एक ही अर्थ और एक ही फल की आशा करता है; परन्तु जब प्रत्येक विज्ञानज्ञ योग, गुणन तथा विभाजन के नवीन अथवा मनोनुकूल अर्थ लगाने लगेगा तो अनुसंधान असंभव होगा और गणित के सिद्धान्तों की प्रगति नहीं हो पाएगी और हम एक-दूसरे के कार्य और कार्य-फल से कोई भी लाभ नहीं उठा पाएँगे। यही परिस्थिति सभी वैज्ञानिक विषयों के संबंध में भी रहेगी। भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, बीजगणित, रेखागणित, अंकगणित इत्यादि सभी तर्क एवं मानसिक ज्ञान-संबंधी विषयों के सिद्धान्त एवं उनकी विधियाँ ऐसी ही भाषा में व्यक्त की गई हैं कि जिनमें केवल एक अर्थ की अपेक्षा है और दूसरा अर्थ संभव ही नहीं।

परन्तु उपरोक्त परिस्थिति की विवेचना के उपरान्त हम यह प्रश्न पूछेंगे कि क्या हमारा समस्त जीवन तर्क और मानसिक ज्ञान पर ही आधारित है? क्या इन्हीं दोनों को हम जीवन के मूल आधार मान लें? अथवा क्या मानसिक तथा तार्किक संबन्धों के अतिरिक्त जीवन से हमारा कोई अन्य संबन्ध भी है? अथवा क्या भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र इत्यादि ही जीवन की सीमा का अन्त कर देते हैं? क्या इन विषयों के परे अन्य किसी विषय की महत्ता ही नहीं? वास्तव में जीवन अत्यन्त व्यापक वस्तु है और उसके साथ ही साथ हमारा व्यक्तित्व भी अत्यन्त व्यापक है। जब भी हम कोई वस्तु देखते हैं अथवा कोई बात सुनते हैं अथवा जब कोई कार्य दूसरों के द्वारा किया हुआ देखते हैं और दूसरों की सुनी-सुनाई बातों पर ध्यान देते हैं तो हमारा मस्तिष्क और तर्क ही नहीं वरन् समस्त व्यक्तित्व गतिशील हो उठता है। प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व, विभिन्न मनुष्य होने के नाते, पृथक् रहता है और यह विभिन्नता

इतनी अधिक होती है कि जिसका अनुमान लगाना कठिन होगा। हम मनुष्य की संज्ञा तो सबको समान रूप में देते हैं, परन्तु प्रत्येक मनुष्य अनेक रूपों में एक-दूसरे से विभिन्न रहता है। इसका कारण है उसका व्यक्तित्व; और यही व्यक्तित्व अपने अनेक गुणों अथवा अवगुणों द्वारा एक-दूसरे में पृथक्त्व बनाए रखता है और मानवी अनुभव-क्षेत्र को अत्यन्त रोचक और अनुरंजित किए रखता है। वर्षा के पश्चात् सतरंगा इन्द्रधनुष वास्तव में सूर्य की शुभ्र ज्योति द्वारा सात रंगों का निर्माण कर लेता है परन्तु मूल एवं वास्तविक रंग सफेद ही रहता है, उसी प्रकार मनुष्य की मूल संज्ञा ग्रहण करते हुए भी समस्त मानव-समाज का अपना बहुरंगा व्यक्तित्व अलग-अलग सुरक्षित रहता है। उदाहरण के लिए, जब हम कोई भी दृश्य देखते हैं तो उस दृश्य के प्रति हममें समान प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं होती। कुछ व्यक्ति उस ओर आकर्षित होते हैं; कुछ विरक्त रहते हैं; कुछ प्रेरणा ग्रहण करते हैं; कुछ टीका-टिप्पणी कर एक ओर हो जाते हैं; और 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूर्ति देखी तिन तैसी' वाली कहावत चरितार्थ करते हैं। यही कारण है कि हमारी कथन-शैली विभिन्न हो जाती है। जो कुछ हमने देखा, वही सबने देखा; परन्तु जिस रूप में हमने देखा उस रूप में दूसरों ने नहीं देखा। साहित्य-शैली की विभिन्नता का यही मूल-आधार रहेगा। इसी साहित्यिक सत्य के आधार पर एक श्रेष्ठ आलोचक ने यहाँ तक कह डाला है कि—शैली व्यक्ति की प्रतिरूप है; और व्यक्तित्व जैसा होगा वैसी ही शैली भी होगी। शैली मानव-समाज की विभिन्नता की सतत परिचायक रहेगी।

साहित्यिक-शैली की विभिन्नता जब स्पष्ट रूप में प्रमाणित हो गई तब उस शैली द्वारा प्रस्तुत जीवन-सत्य की बाह्य विभिन्नता भी सहज रूप में प्रमाणित हो जायगी। और इसी तथ्य में इसकी रहस्यपूर्णता

शैली की विभिन्नता भी निहित रहेगी। फलतः इस विवेचन का पहला निष्कर्ष यह रहा कि साहित्य के किसी भी अंग की परख के लिए हम कोई एक नियम नहीं बना सकते। हम कोई ऐसा मूल-मंत्र नहीं प्रस्तुत कर सकते जिसके उच्चारण मात्र से समस्त साहित्यिक गुण अथवा अवगुण सम्मुख आ जायँ और हम श्रेष्ठ आलोचक के पद पर आरूढ़ हो जायँ। हम यह भी नहीं कह सकते कि अमुक शैली श्रेष्ठ है और अमुक हीन। इसका हमें अधिकार ही नहीं। विभिन्नता श्रेष्ठता की परिचायक नहीं; विभिन्नता, विभिन्नता की परिचायक है। उदाहरण के लिए, यदि किसी व्यक्ति को फलों में संतरा रुचिकर है, और दूसरे को शरीफा तो, पहले व्यक्ति को यह

कहने का अधिकार नहीं कि शरीफा को रुचिकर समझने वाला व्यक्ति हीन है, अथवा वह फल भी हेय है। उसे केवल इतना कहने का अधिकार है कि मुझे तो संतरे ही रुचिकर हैं। उसी प्रकार दूसरे व्यक्ति को भी संतरे से प्रेम करनेवाले व्यक्ति को अथवा संतरे को निकृष्ट करने का अधिकार नहीं। वह केवल यह कहने का अधिकारी है कि चाहे दूसरों को कोई भी फल प्रिय हो, मुझे केवल शरीफा ही प्रिय है। अनेक व्यक्ति, अपने मनोनुकूल, रुचिकर फल खा सकते हैं और उसकी प्रशंसा कर सकते हैं। यही सिद्धान्त साहित्य-क्षेत्र में भी हितकर एवं श्रेयस्कर रहेगा। रुचि-वैभिन्न्य साहित्य की श्रेष्ठता की माप नहीं; वह उसकी रहस्यपूर्णता का प्रमाण है। यही कारण है कि अनेक पाठकों को किसी कविता का कभी शब्द-चयन आकर्षक शत होगा, दूसरे को कल्पना-तत्त्व आकर्षक लगेगा, तीसरे को ध्वनि तथा लक्ष्यार्थ हृदयग्राही जान पड़ेंगे, और चौथे को, कदाचित् छन्द को लय तथा संगीत ही मनोहारी शत होगा।

उपरोक्त विवेचन के अन्तर्गत, साधारणतः दूसरा निष्कर्ष जो हम निकाल सकेंगे वह अर्थ से सम्बन्धित रहेगा। कलाकृति को देख अथवा सुनकर हम सभी अपने मनोनुकूल रुचिकर तथा आकर्षक स्थल ढूँढ़ेंगे और केवल यह संकेत कर सकेंगे कि उस कृति का अमुक अंग अत्याकर्षक है। यही कारण है कि जितने कलाकार होंगे, उतनी ही विभिन्न उनकी शैली होगी और उतने ही विभिन्न संकेत हमें प्राप्त होंगे। ऐसी परिस्थिति में हमारे लिए यह जानना फलप्रद होगा कि कितनी विभिन्न शैलियाँ हो सकती हैं और प्रत्येक के कौन-कौन से गुण हमें ध्यान में रखने होंगे। इस सम्बन्ध में हमें यह भी भूलना न होगा कि शैली का प्रमुख अथवा मूल गुण यही होगा कि उसमें अभिव्यक्ति की क्षमता कितनी और किस कोटि की है। अच्छा तो यह होता कि हम आदर्श-शैली के गुणों की तालिका बना लेते और सभी को वह मान्य होती; और वैज्ञानिक शास्त्रों की शब्दावली और शैली के समान वह एक ही अर्थ, एक ही ध्वनि, एक ही लक्ष्य की ओर संकेत करती रहती। परन्तु ऐसा होना कदाचित् किसी तरह भी, उपरोक्त कारणवश संभव नहीं। विज्ञान की भाषा और शैली तथा साहित्य की भाषा और शैली में यही मूल अंतर रहेगा।

किसी विशेष प्रकार के साहित्य के लिए, संभव है, ऐसी शब्दावली चुन ली जाय कि न तो उनमें लक्ष्यार्थ हो और न संकेतार्थ और यदि हो भी तो उसकी मात्रा अत्यन्त न्यून हो। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति ऐसा

निबन्ध लिखे जिसमें केवल तर्क रहे और भावना इत्यादि बहिष्कृत रखी जाय तो संभव है कि पाठकों को उसे समझने में अपनी विभिन्न रुचि को प्रदर्शित करने का अवसर न मिले परंतु ऐसे लेखक और लेख इने-गिने ही रह सकेंगे। कुछ लेखक ऐसे भी हो सकते हैं जिनका ध्येय केवल यह हो सकता है कि वे केवल दैनिक उपयोगिता को ही ध्यान में रखकर अपनी रचना करें। परन्तु ऐसा उपयोगी दृष्टिकोण रखते हुए भी यह संभव नहीं कि उसमें कुछ रहस्य-पूर्ण संकेत सन्नहित न हो जाय। आखेट करते समय जब शिकारी अपने शिकार की ओर देखता है और बाण चलाता है तो यह संभव नहीं कि लक्ष्य-भेद के क्षण में उसके साथ-साथ उसके कुछ विशेष विचार, विशेष भाव तथा विशेष मनोभाव उसके हाथ से छूटते तीर के साथ लगे-लिपटे न हों। उसके लक्ष्य की उपयोगिता तो केवल यह है कि शिकार धराशायी हो जाय किन्तु इस उपयोगी लक्ष्य से उसकी भावनाओं इत्यादि का बहिष्कार संभव नहीं। साधारणतः ऐसा हुआ है कि कलाकार ने अपना एकाकी लक्ष्य तो बनाया परन्तु उस एकाकी लक्ष्य-भेद में सफलता प्राप्त करने के साथ-साथ उसने अनेक भावनाओं इत्यादि को भी, अनजाने ही स्थान दे दिया। गोस्वामी तुलसीदास जी की रचना रामचरित-मानस का एकाकी लक्ष्य—“बरनों रामचरित भव-मोचन” था और इस लक्ष्य की ओर गोस्वामी जी पग-पग पर संकेत करते हैं। परन्तु पाठकों की रुचि को क्या कहा जाय ! गोस्वामीजी की रचना के कल्पना-तत्त्व, विचार तत्त्व, दर्शन तत्त्व, लक्ष्यार्थ एवं संकेतार्थ इत्यादि की ओर सभी पाठक अपनी-अपनी रुचि के अनुसार आकर्षित हुए। गोस्वामीजी का लक्ष्य—उपयोगी लक्ष्य—तो केवल एक था—राम का गुण-गान, परन्तु उस गुण-गान में गोस्वामी जी की कल्पना, परिकल्पना, हास्य, इत्यादि सभी मुखरित हुए। स्पष्ट है कि उपयोगी साहित्य-लेखक चाहे वह कितनी भी चेष्टा क्यों न करे अपने भावना-क्षेत्र को देश-निकाला नहीं दे सकता।

अनेक लेखक ऐसे भी होंगे जो चाहे कोई भी लक्ष्य निश्चित क्यों न करें जान-बूझ कर अपने व्यक्तित्व के अनेक गुणों को अपनी शैली में सन्नहित किया करते हैं। यदि वे तर्क करेंगे अथवा वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाकर केवल सिद्धान्त-निरूपण करेंगे तो भी वे कभी सरलता, सौष्ठव, सौजन्य, सहानु-भूति, इत्यादि गुणों को छूते अवश्य रहेंगे। यह मूल सिद्धान्त भाषण-कला-क्षेत्र के वागीशों के उदाहरण द्वारा और भी स्पष्ट हो जायगा। वागीशों का लक्ष्य तो केवल एक रहेगा—अपने मत का तर्क-पूर्ण समर्थन; परन्तु वे अपनी शैली में अनेक तत्त्वों का समन्वय करेंगे। कभी वे सरल सुबुद्धि का प्रयोग

करेंगे;^१ कभी क्रोध और क्षोभ का प्रदर्शन करेंगे; कभी करुणा से द्रवीभूत हो उठेंगे; कभी भर्त्सना करेंगे और कभी व्यंग्य एवं परिहास का सफल प्रयोग कर अपने लक्ष्य की पूर्ति करेंगे ।

इन्हीं अनेक उपरोक्त कारणों से हमें साहित्य-क्षेत्र में अनेक विभिन्न शैलियों का प्रयोग दृष्टिगत होगा । काव्य-क्षेत्र में कहीं हमें व्यक्तिवादी तथा वाध्य-वादी शैली मिलेगी और उसके अन्तर्गत वर्णनात्मक, भावात्मक, कल्पनात्मक, इत्यादि विभिन्न शैलियों के उदाहरण मिलेंगे । गद्य-क्षेत्र में तो यह विभिन्नता और भी बढ़ी-चढ़ी दिखलाई देगी । कहीं हमें ऐतिहासिक एवं दर्शनात्मक शैली मिलेगी और कहीं हमें दैनिकी के उपयुक्त तथा समाचारपत्रों के उपयुक्त संवाददाताओं की चटपटी शैली का उदाहरण मिलेगा और इसके अन्तर्गत भी अनेकरूपी शैलियों का प्रयोग प्रचलित दिखाई देगा । उदाहरण के लिए, हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में कहानीकार प्रेमचंद, 'कौशिक', सुदर्शन, अज्ञेय, इत्यादि की शैलियों में जमीन-आसमान की विभिन्नता दिखलाई देगी; यही परिस्थिति उपन्यास-क्षेत्र में भी है । साधारणतः यह विभिन्नता सभी देशों के साहित्यकारों में मिलेगी । कदाचित् निबन्ध-रचना-क्षेत्र में यह विभिन्नता जितनी स्पष्ट रूप में दिखाई देगी उतनी अन्य क्षेत्रों में नहीं स्पष्ट होगी । और यह विभिन्नता दो-चार लेखकों की ही रचनाओं की ओर संकेत करने से स्पष्ट हो जायगी । हास्यपूर्ण निबन्ध, यात्रा-संबंधी निबन्ध, आलोचनात्मक निबन्ध, अनेक निजी अनुभवों पर आधारित लेख सभी की शैली में आश्चर्यजनक विभिन्नता दृष्टिगत होगी । कुछ निबन्ध-लिखनेवाले तो ऐसे होंगे जिनकी रचनाओं का उपयोगिता की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं, परन्तु निबन्ध-रचना की कला वहाँ

-
१. अंग्रेजी साहित्य-क्षेत्र के श्रेष्ठ वागीश-फाक्स तथा शेरीडन जब भारत के गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स के ऊपर अभियोग लगाकर उनका प्रमाण दे रहे थे तो उन्होंने केवल हिसाब-किताब का लेखा नहीं प्रस्तुत किया और न उनके लिखित अभियोगों पर टीका-टिप्पणी की । उन्होंने अंग्रेजी राजनीति, अंग्रेजी सभ्यता, अंग्रेजी चरित्र का गुणगान किया; भारतीय आदर्श, भारतीय मर्यादा तथा भारतीय समाज के ज्वलन्त चित्र खींचे और कभी करुणा एवं सहानुभूति की सृष्टि की और कभी श्रोतावर्ग की क्रोधाग्नि भड़काई । यद्यपि लक्ष्य उनका दूसरा था परन्तु उसकी पूर्ति में उनके व्यक्तित्व के अनेक गुण उसमें प्रदर्शित होते रहे ।

अपनी परकाष्ठा^१ पर है और बहुत कम लेखक इस कोटि की कलापूर्ण रचना कर सके हैं।

साधारणतया आलोचकों तथा पाठक-वर्ग ने निबन्ध शब्द को अत्यन्त व्यापक और विस्तृत रूप में प्रयुक्त किया है और उसके अन्तर्गत गद्य-रूप में लिखे गए अन्यान्य विषयों पर की गई रचनाओं को सम्मि-

(१) निबन्ध लित किया है। यही नहीं, अंग्रेजी साहित्य में तो पद्यरूप^२ में भी लिखित रचनाओं को कुछ लेखकों ने निबन्ध की ही संज्ञा प्रदान की है और उसका यही शीर्षक भी चुना है। निबन्ध की संज्ञा से विभूषित हमें सभी कोटि और स्तर की रचनाएँ मिलेंगी। हमारी पाठशालाओं में शिक्षार्थी कौन-से विषय पर निबन्ध नहीं लिखते; और इस स्थावर और जंगम जगत् की शायद ही कोई ऐसी वस्तु हो जिसे विषयरूप मान कर निबन्ध नहीं लिखे जाते। जीवधारियों से संबंधित शायद ही कोई ऐसा अनुभव और ऐसी परिस्थिति हो जो निबन्ध की परिधि में न आ सके। नीलगगन में आच्छादित तारिकाओं के समान हमारा साहित्याकाश भी अनेक लेख-रूपी तारिकाओं से आच्छादित है।^३

कदाचित् यह विचार अभिमत रहेगा कि साधारणतः निबन्ध के रचयिताओं का मूल उद्देश्य यही था कि वे इस साहित्यिक माध्यम से मानवीय ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि करें, उपयोगी विषयों को आकर्षक रूप में प्रस्तुत करें और समाज के कल्याणकारी कार्यों में सहयोग दें। विज्ञान तथा दर्शन जैसे कठिन विषयों को सहज तथा सुलभ बनाने में इस माध्यम ने बहुत सहायता दी और यही कारण है कि इसकी उपयोगिता बहुत कुछ बढ़ती गई और कालान्तर में यह साहित्य का एक प्रमुख अंग बन गया। परन्तु इस लक्ष्य की पूर्ति के पश्चात् इसकी सीमा विस्तृत बनती गई और उपयोगी विषयों के अतिरिक्त अन्यान्य मनो-वैज्ञानिक, अनुभवात्मक तथा रसपूर्ण विषयों की ओर लेखक-वर्ग आकृष्ट हुआ

१. अंग्रेजी साहित्यकारों में बेकन, ऐडिसन, गोल्डस्मिथ, लैम्ब, स्टीविन्सन प्रभृति अनेक लेखकों का नाम अग्रणी रहेगा। हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुंद गुप्त, प्रेमचंद, प्रसाद, रामचंद्र शुक्ल इत्यादि स्मरणीय रहेंगे।

२. एलेकजाण्डर पोप-लिखित—'एसे ऑन मैन'।

३. पं० प्रतापनारायण मिश्र ने हिन्दी वर्णमाला के कुछ अक्षरों पर अत्यन्त रोचक लेख लिखे हैं।

और धीरे-धीरे उसमें कला का समावेश होने लगा। और कुछ ही शतियों में कला इतनी विकसित तथा प्रौढ़ हो गई कि उसके उपयोगी तत्त्व प्रायः भुला दिए गए और केवल कला-प्रदर्शन के लिए इसका आधार ढूँढ़ा जाने लगा। साहित्य-क्षेत्र में अनेक लेखक ऐसे भी मिलेंगे जिनकी रचना में कला-पक्ष तथा उपयोगी-पक्ष दोनों समान रूप से प्रस्तुत मिलेंगे और ऐसे भी बहुत से होंगे जो केवल कला-साधना के लिए ही वह आधार अपनाएँगे। और जब ऐसी परिस्थिति सम्मुख आ जाती है तो हमें पुनः आलोचक तथा आलोचना की शरण लेनी पड़ती है। जहाँ तक उपयोगी-पक्ष का प्रश्न है इसके मूल्य से तो सभी न्यूनाधिक मात्रा में परिचित हो जाते हैं परन्तु जब लेखक उपयोगी तत्त्व अपनी रचना से निकाल फेंकता है और केवल कलात्मक-अभिव्यञ्जना के लिए स्वातन्त्र्यमुख लेखनी उठाता है तब पाठकवर्ग की कठिनाई बहुत बढ़ जाती है। कला की परख सरल नहीं; उस परख के लिए हममें अनेक श्रेष्ठ गुण होने चाहिए।^१ और निबन्ध की कलात्मकता का स्तर परखने के लिए हमें निबन्ध की परिभाषा तथा उसके संक्षिप्त इतिहास^२ का साधारण ज्ञान वांछित होगा।

१. देखिए—‘आलोचना—इतिहास तथा सिद्धान्त’—‘श्रेष्ठ आलोचक का कर्तव्य’।

२. अंग्रेजी साहित्य में फ्रांसीसी लेखक मॉन्टेन, निबन्ध-शैली के प्रथम उच्चायक माने गए हैं। उन्होंने अपने अनेक अनुभवों को लिपि-बद्ध कर उसके द्वारा मानसिक आनन्द प्राप्त करने का प्रथम प्रयास किया। उनकी यह शैली अपूर्व और नवीन थी और उनका मूलतः यह विचार भी था कि किसी ऐसी शैली का प्रयोग किया जाय जो किसी अन्य लेखक ने न प्रयुक्त की हो और वह नितान्त मौलिक हो। इसी प्रेरणा के फलस्वरूप उन्होंने निबन्ध शैली का श्रीगणेश किया। इस शैली में उन्होंने अपने व्यक्तिगत अनुभव, निजी रुचि तथा दृष्टिकोण, जीवन से संबंधित अनेक सरस तथा नूतन भावनाओं-सभों का समावेश सम्भव बनाया। वास्तव में, वे इस शैली द्वारा मानवीय व्यक्तित्व की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तथा तीव्र से तीव्र अभिव्यञ्जना चाहते थे और उन्हें ऐसी शैली की खोज थी, जो जीवन के सभी पहलुओं के प्रदर्शन में सहायक होती। मानव-व्यक्तित्व से बढ़कर जटिल शायद अन्य कोई वस्तु नहीं होगी। वह तर्क और असंगति; कल्पना और यथार्थ; आदर्श और प्रायोगिकता; देवत्व तथा दानवत्व अनेक

साहित्य-क्षेत्र में शैलियों की विभिन्नता के कारणों और उनके आधारों पर हम, संभवतः विस्तृत रूप में विचार कर चुके और अब यह सिद्धान्त रूप में निश्चित करना होगा कि इन कारणों तथा आधारों में कौन-गद्य तथा काव्य सी विशेषता है, जो शैली को इतने गहरे रूप में प्रमाणित करती है। और जैसा हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं—इसके मूल में शब्द तथा शब्द-प्रयोग की ही कुछ मौलिक विशेषताएँ ही रहेंगी।

विरोधी तत्वों का एक अस्यन्त रहस्यपूर्ण उदाहरण है और इसी व्यक्तित्व के आकर्षण को समझ कर मॉन्टेन ने इस मौलिक शैली की सृष्टि की। जिस प्रकार गीत लेखक अपने व्यक्तित्व के छिपे-से-छिपे हुए अनुभवों को स्वरित कर देता है, उसी प्रकार निबंध का रचयिता मानवीय व्यक्तित्व की अपूर्व झाँकी दिखलाया करता है। सच तो यह है कि मॉन्टेन गद्य-क्षेत्र में गीत की आत्मा की अवतारणा करना चाहते थे और उसमें उन्हें अपूर्व सफलता भी मिली। वास्तव में निबंध, गद्य-क्षेत्र में गीत का पर्याय है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि यह पर्याय सभी दृष्टियों से पूर्ण है। गीत की कल्पनात्मकता, उसकी तीव्रता, उसकी टीस तथा उसकी अलौकिक प्रेरणा लेख की परिधि के बाहर रहेगी। निबंध में मानवीय व्यक्तित्व सुखरित होगा, मगर उसमें यथार्थ का आकर्षण होगा; सहज जीवन का प्रसार होगा। साधारणतः निबंध में किसी तर्कपूर्ण, सुव्यवस्थित एवं वैज्ञानिक रूप से सम्पूर्ण विषय का प्रतिपादन नहीं होगा। हम निबंध में किसी वैज्ञानिक सत्य अथवा सिद्धान्त-निरूपण की अपेक्षा भी नहीं करेंगे। उसमें तो लेखक, व्यक्ति के मानस में कल्लोल करते हुए विचारों तथा भावनाओं का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करेगा। वह किसी भी एक विषय पर स्पष्टतः विचार-निरूपण भी नहीं करेगा; वह केवल अनेक विचार-विधियों के बीच होता हुआ, मनोनुकूल आकर्षक दृश्य चुनता हुआ निबंध समाप्त कर देगा। वह व्यक्ति को क्षण-क्षण में बदलती हुई भावनाओं का आकर्षक चित्र प्रस्तुत करेगा। जिस प्रकार किसी एक पेड़ का सहारा लेकर लता-वल्हरियाँ ऊपर चढ़ती चली जाती हैं और वृक्ष की सर्वोच्च डाल पर पहुँच कर फूलों के गुच्छे लटका देती हैं उसी प्रकार निबंध का रचयिता किसी एक विषय के आधार पर अनेक भावों की लड़ियाँ पिरोता हुआ एक अनुरागपूर्ण मणिमाला प्रस्तुत कर देता है। यद्यपि निबंध-शैली के मूल

शैली के मूल-आधार शब्द ही रहेंगे और उसका सफल विवेचन करते समय हम यही देखेंगे कि लेखक के शब्दों, उनके प्रयोगों, उसके वाक्यांशों, उसके वाक्यों तथा वाक्य-समूहों में कौन-कौन सी विशेषताएँ हैं और जिस विषय को चुनकर वह लिख रहा है उसके लिए चुने हुए शब्दों, वाक्यांशों तथा वाक्यों से कितने स्पष्ट अथवा गहरे रूप में सहायता पा रहा है। जब शब्दों का प्रयोग स्पष्ट, तर्कपूर्ण तथा अभिमत व्यवस्था का अनुसरण करेगा तो गद्य का जन्म होगा। लेखक के शब्द किसी विशेष व्यवस्था में बँदी हो जायेंगे, उनका

निर्माता ने लेख का यही उपरोक्त आदर्श मान्य ठहराया परन्तु आगामी युगों के अनुसरण-कर्त्ताओं में उसकी मूलरूपरेखा में अनेक परिवर्तन कर डाले। किसी ने उसे सिद्धान्त-निरूपण में प्रयुक्त किया, किसी ने उपयोगी विषयों की टीका-टिप्पणी के लिए उसे अपनाया और कुछ एक ही ऐसे लेखक हुए जिन्होंने मूल-लेखक की भावपूर्ण व्यंजना का अनुसरण किया और श्रेष्ठातिश्रेष्ठ निबन्धों की रचना की। इस संबंध में यह स्मरण रखना आवश्यक होगा इस शैली का जन्म अंग्रेजी साहित्य के पुनर्जीवन-काल की सोलहवीं शती में हुआ, जब मनुष्य अपने को पहिचान रहा था अपने व्यक्तित्व का सर्जन और उसकी रक्षा कर रहा था। इसी युग में पहले-पहल जीवन-चरित लिखने की प्रेरणा लेखकों को मिली और उसी के अन्तर्गत निबंध-शैली का भी जन्म इसी कारण हुआ। वास्तव में निबंध हमारे परिवर्तनशील, रसपूर्ण, आकर्षक तथा मानवीय भावनाओं की जीवनी ही प्रस्तुत करते हैं। मानव-मस्तिष्क तथा मानवीय हृदय अत्यन्त रहस्यपूर्ण क्षेत्र हैं। एक ही क्षण में मानवीय कल्पना हमें स्वर्ग-लोक की सैर कराएगी और दूसरे ही क्षण यथार्थ जगत् में आँसू बहाने के लिए छोड़ देगी; एक ही क्षण में वह हमें परियों के देश में ले जायगी और दूसरे ही क्षण कटु अनुभवों के सागर में हमें डुबो देगी। और ऐसे ही रहस्यपूर्ण मानव-हृदय और मानव-मस्तिष्क के भीतर उभरती, गिरती, हँसती-खेलती भावनाओं का हृदयग्राही चित्र निबंध में मिलना चाहिए। निबंध का सफल लेखक पाठक को अपने हृदय-प्रांगण में छोड़ देता है, जहाँ वह कभी प्रफुल्लित होगा, कभी सजल आँखों से मुसकाएगा, कभी क्रोधित होगा और कभी जीवन की सहाय-भूतिपूर्ण झाँकी देखकर सब कुछ विस्मृत कर देगा। श्रेष्ठ निबन्ध हमारे मानवीय जीवन के श्रेष्ठ परिचायक रहेंगे।

लक्ष्य स्थिर और स्पष्ट हो जायगा; वहाँ भावुकता, कल्पना, परिकल्पना, आकर्षक रहस्यपूर्णता को स्थान नहीं मिलेगा । और इसके विपरीत जब लेखक शब्दों की ध्वनि, उनकी भावुकता, उनकी कल्पनापूर्णता पर अधिक ध्यान देगा और इसी दृष्टि से उनका प्रयोग करेगा तब काव्य की आत्मा के दर्शन होंगे ।

शब्दों के सम्बन्ध में सच बात तो यह है कि उनकी ध्वनि में ही उनका मूल्य विशेषतः रहेगा । यही नहीं प्रायः उसकी ध्वनि में ही उनका सम्पूर्ण अर्थ निहित रहेगा । शब्दों को जब हम लिखते हैं तब वह अक्षरों का एक अभिमत समूह मात्र रहता है; परन्तु उसका उच्चारण करते ही उसमें नवीन रस, नवीन संकेत, नूतन भावनाएँ, नूतन कल्पनाएँ साकार होने लगती हैं । जिस प्रकार आकर्षक वस्त्राभूषण शरीर के सौंदर्य को और भी निखार देते हैं, उसी प्रकार आकर्षक ध्वनिपूर्ण शब्द पंक्ति को अत्यधिक हृदयग्राही बना देते हैं । संगमरमर की कलापूर्ण मूर्तियाँ यों तो हृदयग्राही होती हैं परन्तु जब पूर्णिमा की चाँदनी उन पर पड़ती है तब वे देवलोके से उठती हुई जान पड़ती हैं, उसी प्रकार सुन्दर ध्वनि के सहयोग से शब्द खिल उठते हैं; उनमें नव-जीवन आ जाता है, उनका मूल्य बढ़ जाता है । 'कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि' ऐसे वाक्यांश कदाचित्, प्रत्येक काव्य-पाठकों को स्मरण इसीलिए रहते हैं कि वे शब्दमात्र नहीं; वे जीवनपूर्ण, संकेतपूर्ण तथा भावपूर्ण रेखा-चित्र हैं जो कानों में अमृत घोलते हैं और हमारी कल्पना के सम्मुख सुमधुर गति से बजती हुई पायल की धुन सुनाती हुई पग-ध्वनि साकार हो उठती है ।

परन्तु इस प्रकार के शब्द-प्रयोगों में एक विशेष आशंका होने लगती है । जब कभी इनका इस रूप में बहुल-प्रयोग होगा तो हमें यह आभास मिलने लगेगा कि लेखक अथवा कवि के पास कुछ बने-शब्द-चयन तथा लय बनाए वाक्यांश हैं जिन्हें वह यदाकदा प्रयुक्त करता रहता है; इसमें न तो उसकी कला है और न उसकी श्रेष्ठ अभिव्यक्ति । जब वह शब्दों से सुमधुर पग-ध्वनि का संकेत देता है और यही व्यवस्था बारम्बार दुहराता है अथवा आनुनासिक शब्दों की शृंखला इकट्ठी कर देता है तब हमें यह विश्वास होने लगता है कि कवि में न तो मौलिकता है और न श्रेष्ठता; और जिस प्रकार कठपुतली का नाच दिखानेवाला एक ही बार हमें आकर्षित करता है इसी प्रकार हम यह समझने पर बाध्य होते हैं कि लेखक भी कठपुतली के समान शब्दों का परम्परागत प्रयोग कर रहा है और उसमें कोई विशेष काव्य-शक्ति नहीं । प्रायः अनेक अनुभवहीन कवि अनेक

मानवीय कार्यों की गतिशीलता और जीव तथा जन्तु-जगत् के अनेक कार्य शब्द-ध्वनि से स्पष्ट करते आए हैं। मरमर करती हुई सरिताओं की लोल लहरियाँ, सरसर बहती हुई वायु, गुंजन करते हुए भारे; गुटरूँ बोलती हुई कपोतिनी, चहचहाती हुई चिड़ियाँ, अन्यान्य ध्वनियों को कलाकार शब्दों के विशिष्ट प्रयोग द्वारा व्यक्त करते आये हैं और यह कला, कला तो अवश्य है परन्तु इसके सफल प्रयोग में सावधानी की आवश्यकता पड़ेगी। साधारणतः इस प्रकार के प्रयोग वर्णनात्मक काव्य के लिए ही फलप्रद होंगे और किसी प्रकार के दर्शनात्मक अथवा आध्यात्मिक सत्तों का निरूपण करती हुई कविता में असंगत होंगे : वे स्वयं तो प्रभावहीन होंगे ही, भावाभिव्यक्ति में भी अड़चन डालेंगे। परन्तु इतना होते हुए भी यह निस्संदेह सत्य है कि साहित्य तथा काव्य की शक्ति, विशेषतः शब्दों की ध्वनि पर अनेक अंशों में आधारित रहेगी। इस सिद्धान्त से यह भ्रामक अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि केवल एक शब्द की ध्वनि और उसके विशिष्ट अर्थ में काव्य-शक्ति निहित रहेगी। काव्य-शक्ति का आविर्भाव तभी होगा जब ध्वन्यात्मक शब्दों की कलापूर्ण शृंखला, पंक्ति में बार-बार आएगी और हमारे मानस में लय का संचार करेगी। काव्य-शक्ति लय की सहज अनुगामिनी रहेगी।

वास्तव में काव्य का विशेष गुण यह भी है कि उसमें लय हो और प्रायः लयहीन काव्य अनेक पाठकवर्ग के लिए अनाकर्षक रहा है। इसका प्रमुख कारण यह है कि आदिकाल से काव्य में लय की स्थापना होती आई है और यह उसका सहज अंग बन गया है। दूसरे, लय हमारी स्मरण-शक्ति को बहुत सहायता देता रहता है। यही कारण है कि पद्य अथवा लय-पूर्ण कविता हमें शीघ्र ही कण्ठस्थ हो जाती है और उसे हम बहुत काल के उपरान्त भी नहीं भुला पाते। इसके अतिरिक्त, तर्क रूप में यह भी कहा जा सकता है कि हमारे कान लय की ओर सहज रूप में आकर्षित रहते हैं और यह उनका मानवीय गुण है। इन्हीं कारणों को ध्यान में रख कर प्राचीन युग के लेखकों ने अनेक विषयों का निरूपण तथा लेखन पद्य-रूप में किया था और उनकी महत्ता आज तक कम नहीं हुई है।

साधारणतया पाठकों के मन में यह धारणा बनी रहती है कि लय केवल पद्य अथवा काव्य में होगा और गद्य उससे वञ्चित रहेगा। यह विचार असंगत है।

लय की उपस्थिति पद्य तथा गद्य में समान-रूप में रहेगी।

गद्य तथा काव्य में पद्य तथा गद्य के लय में, मूलतः, केवल यह विभिन्नता लय का स्थान रहेगी कि काव्य में वह क्रमागत तथा किसी विशेष

व्यवस्थापूर्ण रूप में प्रस्तुत रहेगा और गद्य में उसका क्रम परिवर्तनपूर्ण तथा उसकी व्यवस्था अनियमित रहेगी। हिन्दी-काव्य के मात्रिक तथा वर्णिक छन्दों के थोड़े-बहुत अध्ययन से यह सिद्धान्त स्वतः स्पष्ट हो जायगा। किसी भी काव्य-पंक्ति में नियमित मात्राएँ अथवा नियमित वर्ण रहेंगे जो अपनी गति से लय का आभास देंगे। प्रायः वर्णिक छन्दों में लय का प्रसार अधिक सरल तथा सहज रूप में होगा। इसके विपरीत अंग्रेजी भाषा की काव्य-पंक्ति शब्दांशों में विभाजित रहेगी और अपने दीर्घ अथवा लघु उच्चारण-परम्परा के अनुसार लय को जन्म देती चलेगी^१। काव्य में लय का प्रयोग ही छन्द को जन्म देता है और इन लयों की विभिन्नता ही—छन्दों की विभिन्नता ही—छन्दों उत्तरदायिनी है। इन विभिन्न लयों और का अध्ययन हम छन्द-शास्त्र के अन्तर्गत करते हैं। छन्दों के अन्तर्गत हमें प्रायः सभी भाषाओं के काव्य में तुक की उपस्थिति भी मिलेगी, जिसके द्वारा पद्य में एक विचित्र सम्पूर्णता का दर्शन होने लगता है। पद्य-पंक्ति का पहला तुक जो अन्तिम शब्द की ध्वनि में निहित रहता है, दूसरी पंक्ति के अन्तिम शब्द की ध्वनि के प्रति हमें आकर्षित रखता है; और हम प्रायः इस अप्रत्याशित ध्वनि की कल्पना किया करते हैं। जब दोनों पंक्तियों के अन्तिम शब्द की ध्वनियाँ एकरूप हो जाती हैं तब हमें विचित्र रूप में मनोवैज्ञानिक आनन्द प्राप्त होता है। संस्कृत-साहित्यकारों ने मानवीय भावों की विभिन्नता के अनुकूल और नव रसों के अनुरूप विशिष्ट छन्दों का निर्माण किया और जिसका अनुकरण हिन्दी-साहित्यकारों ने अनेक रूप में किया है। अंग्रेजी छन्द-शास्त्र, जो रस-परिपाक की परम्परा से प्रायः विभिन्न है, विशेषतः विषयों के आधार पर छन्द-निर्माण करता आया है। इसी कारण जहाँ संस्कृत तथा हिन्दी काव्य में भावों के अनुरूप छन्द-व्यवस्था बनी वहाँ अंग्रेजी-साहित्य में काव्य का वर्गीकरण विषय के अनुरूप होने लगा।

साधारणतः काव्य दो भागों में विभक्त किया गया। पहला वर्णनात्मक काव्य तथा दूसरा गीतिकाव्य। वास्तव में यह विभाजन न तो पूर्ण है और न तर्क रूप में ही मान्य है, क्योंकि दीनों वर्ण की कविताएँ एक-काव्य का वर्गीकरण दूसरे में लगी-लिपटी रहती हैं। वर्णनात्मक काव्य कभी गीतिकाव्य के क्षेत्र में आने का प्रयत्न करने लगता है और गीतिकाव्य प्रायः वर्णनात्मक क्षेत्र अपना लेता है।

वर्णनात्मक काव्य, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, किसी कार्य का वर्णन

करता है और कोई भी कार्य चाहे वह किसी रूप में हो वर्णनात्मक काव्य के अन्तर्गत स्थान पाएगा और यद्यपि उसमें वर्णन ही की वर्णनात्मक काव्य मात्रा अधिक रहेगी फिर भी गीतकाव्य के कुछ अंश उसमें सहज ही आ जायेंगे। वर्णन करनेवाला कवि, कार्य का वर्णन करते समय अपने आन्तरिक भावों को भी व्यक्त करने का अधिकारी रहेगा। कभी वह कर्षण भावना से दयार्द्र हो उठेगा, कभी रौद्र रस उसे प्रेरित करेगा, कभी शान्त और कभी वीर उसकी शैली में सारल्य एवं ओज ले आएँगे और अन्त तक वर्णनात्मक काव्य गीतकाव्य की छाया लिए अपना मार्ग प्रशस्त करता चलेगा। काव्य-क्षेत्र में कभी हमें ऐसे वर्ग की कविताओं के भी दर्शन होंगे जो न तो वर्णनात्मक कहलावेंगे और न गीतकाव्य के अन्तर्गत रखे जा सकेंगे। यह नवीन वर्ग दोनों वर्गों के कुछ विशेष तत्त्वों के समन्वय के फलस्वरूप निर्मित होगा। और इसे हम नाट्य काव्य के नाम से सम्बोधित कर सकते हैं। नाट्य काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें भावाभिव्यक्ति में बहुत विभिन्नता रहेगी और पाठकों को ऐसा ज्ञात होगा कि मानों विभिन्न पात्र, अलग-अलग अपने भावों का प्रदर्शन कर रहे हैं। जिस प्रकार नाटक के पात्र मूर्तरूप में प्रस्तुत रहकर बोलते रहते हैं, उसी प्रकार नाट्य-काव्य में पात्र अमूर्त रूप में उपस्थित रहकर लेखक की वाणी के माध्यम द्वारा वार्तालाप करते हैं।

वर्णनात्मक काव्य का सबसे सफल एवं विस्तृत रूप महाकाव्य में प्रस्तुत रहेगा। सच तो यह है कि अपने मूल रूप में सभी महाकाव्य वर्णनात्मक रहे हैं। और जैसे-जैसे कार्यों का वर्णन विस्तृत होता महाकाव्य : संचित तथा गया वैसे ही वैसे महाकाव्य की रूपरेखा भी विकसित साहित्यिक होती गई। महाकाव्य के दो प्रमाणित रूप हैं जो विषय तथा वस्तु भेद पर आधारित हैं। इसका पहला रूप संचित कहलाएगा तथा दूसरा साहित्यिक। संचित महाकाव्य एक कलाकार की रचना न होकर अनेक युगों के कलाकारों के अध्यवसाय द्वारा निर्मित होगा। महाकाव्य के विषय पर अनेक कवियों ने अपनी-अपनी लेखनी उठाई और मूल विषय का आकार समय पाकर बढ़ता गया और अन्त में संचित महाकाव्य के रूप में प्रकाशित हुआ। कदाचित् प्राचीन युग के किसी प्रतिभावान् कवि ने किसी देश के किसी महान् व्यक्ति के जीवन-चरित्र की थोड़ी-बहुत रूपरेखा स्थिर की होगी। उसने उसके किसी महान् कार्य की चर्चा की होगी और जनता-जनार्दन के सम्मुख किसी ऐसी भव्य प्रतिभा का वर्णन

करने का प्रयास किया होगा जो उनके लिए महान् कल्याणकारी थी। अगले युगों के कलाकारों ने मूल कथा में अन्य स्थल जोड़े होंगे और उस महान् व्यक्ति के कार्यों का और भी विस्तृत वर्णन किया होगा और फिर बाद के श्रेष्ठ कवियों ने उस महान् नायक के कार्यों की और भी व्यापक चर्चा की होगी और उसे जग-जीवन का नायक ठहरा कर उसकी प्रशंसा की होगी। इसी प्रकार एक विस्तृत, व्यापक, कल्याणकारी महाकाव्य का जन्म संभव हुआ। सभी कवियों ने अपनी वर्णनात्मक शक्ति, व्याख्यात्मक प्रतिभा तथा कल्पनात्मक श्रेष्ठता का उसमें प्रमाण दिया और एक ऐसे लोक-कल्याणकारी नायक की सृष्टि हुई जो देश और काल की अमिट संस्कृति का प्रतीक मान लिया गया। और घर-घर उसका गुणगान होने लगा। अनेक कवियों की लेखनी का सहयोग पाकर संचित काव्य के लिए यह आवश्यक हो गया कि उसका विस्तार व्यापक हो और इसी कारण महाकाव्य का प्रधान गुण उसके विस्तार एवं उसकी व्यापकता में निहित रहेगा। यही कारण है कि वर्णनात्मक काव्य का विस्तृत से विस्तृत तथा समष्टिपूर्ण रूप हम महाकाव्य में पायेंगे। जहाँ गीतकाव्य में व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित, आनन्द और रोदन से सम्बन्धित क्षणों का वर्णन मिलेगा वहाँ महाकाव्य में जाति अथवा राष्ट्र विशेष से सम्बन्धित जीवन के सभी पहलुओं का परिचय हमें प्राप्त होगा। वहाँ हमें जाति-विशेष की सभ्यता एवं संस्कृति; उसके पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा आध्यात्मिक जीवन का आदर्श; सभी दृष्टिगत होंगे और यही गुण इसकी लोकप्रियता का मूल कारण भी रहेगा। किसी भी जाति अथवा राष्ट्र के पाठक जब अपने देश के महाकाव्य का अध्ययन करते हैं तब उनके सभी संचित संस्कार जागरूक होते हैं और वे उस महान् गाथा में अपने देश के व्यापक जीवन की श्रेष्ठता का दर्शन करने लगते हैं। वे उस नायक को आदर्श समझ कर उसका अनुकरण करने की प्रेरणा पाते हैं और राष्ट्र को उन्नति के पथ पर अग्रसर कराते हैं। संचित महाकाव्य की लोकप्रियता का दूसरा प्रमुख कारण यह रहेगा कि उसकी कथा में अनेक नाटकीय तत्वों का सहज समावेश होगा। उसमें आकर्षक एवं संशयपूर्ण स्थल बार-बार आएँगे और अपने असाधारण रूप में पाठक-वर्ग को आकर्षित किए रहेंगे। प्रायः यह संशय नाटक के कार्यों में देवी-देवताओं के हस्तक्षेप द्वारा प्रस्तुत हुआ करेगा। जब नायक किसी महान् कार्य को करने पर उद्यत होगा तब उसे देवों का वरदान प्राप्त होगा और अदेवों का शाप और शाप तथा वरदान के दोनों छोरों को छूता हुआ नायक हमारी सहानुभूति सतत प्राप्त करता रहेगा।

प्रायः संसार के सभी महाकाव्यों में केवल एक नायक विशेष के जीवन से संबंधित घटनाओं, विचारों, तथा आदर्शों का उल्लेख रहेगा और यही मूल नायक समस्त कथानक तथा सम्पूर्ण कथावस्तु का केन्द्र महाकाव्य का बनकर, कथानक के विभिन्न स्थलों में समन्वय प्रस्तुत करता नायक रहेगा। इसी साहित्यिक समन्वय में नायक के उत्कृष्ट कार्यों, उसके आदर्श, तथा उसके गौरव का प्रमाण मिलता रहेगा।

जब हम यह निश्चित कर चुके कि महाकाव्य का नायक अलौकिक तथा महानता का प्रतीक होगा, तो हम यह सहज रूप में कह सकेंगे कि ऐसे नायक के जीवनादर्श का उल्लेख करने के लिए हमें उसी शैली प्रकार की एक गौरवपूर्ण तथा उत्कृष्ट शैली की भी आवश्यकता पड़ेगी। गौरवपूर्ण शैली नायक की महानता को स्पष्ट करने में तथा इसके चरित्र को प्रभावोत्पादक बनाने में सहज सहयोग देगी। और दोनों का सहयोग एक ऐसे महाकाव्य को जन्म देगा, जो शतियों तक जाति एवं राष्ट्र को उन्नत प्रेरणाएँ देता रहेगा।

महाकाव्य लेखन के सम्बन्ध में एक अन्य परंपरा यह है कि लेखकों ने साधारणतः, ऐसी रचना में आद्योपान्त एक ही छंद का प्रयोग किया है।

यूनानी महाकाव्य लेखक होमर की दोनों रचनाओं 'ओडिसे' छंद तथा 'इलियड' और रोमीय महाकाव्य लेखक वर्जिल-रचित 'इनिड' में आद्योपांत एक ही छंद का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार भारतीय महाकाव्य रामचरित मानस में भी गोस्वामी तुलसीदास ने प्रमुख रूप में केवल एक छंद का आद्योपांत प्रयोग किया। यदि प्रभाव की दृष्टि से देखा जाय तो कदाचित् वह मान्य होगा कि एक छंद के प्रयोग के द्वारा कथानक का प्रवाह गतिशील रहता है और छंदों की विभिन्नता इस अविराम गति में अवरोध प्रस्तुत करेगी। कुछ पाठकों का यह विचार हो सकता है कि छंदों की विभिन्नता से महाकाव्य में नवीन लयों तथा नूतन व्यंजना शैली का विशेष आकर्षण रहेगा। परन्तु परम्परा इसी के पक्ष में है कि महाकाव्य में आद्योपान्त एक ही छंद का प्रयोग हो। कुछ अंग्रेजी साहित्य के महाकाव्य-लेखकों ने मुक्तक छंदों में उत्कृष्ट महाकाव्य की रचना की है और यही मुक्तक छंद आदि से अंत तक प्रयुक्त हुआ है। परन्तु प्राचीन यूनानी तथा

रोमीय लेखकों ने दो पंक्तियों के दोहा-समान छंद का प्रयोग सफल रूप में किया। साधारणतः गोस्वामी जी ने चौपाई तथा अनेक स्थलों पर सोरठा एवं दोहा छंद प्रयुक्त किया है। गोस्वामी जी द्वारा प्रयुक्त दोहों एवं सोरठों की विशेषता यह है कि जब किसी घटना अथवा कार्य का वर्णन सम्पूर्ण होने लगता है तो साधारणतः छंद की गति भी धीमी पड़ जाती है; ऐसे विशेष स्थल पर दोहा अथवा सोरठा—उस वर्णन को समुन्नत रूप में संपूर्ण करता है और दूसरी घटनाओं के वर्णन की पृष्ठभूमि तैयार करता है। इस प्रकार की छंद-व्यवस्था वर्णन को प्रभावपूर्ण बनाए रखती है। परन्तु ऐसी व्यवस्था यूनानी तथा रोमीय महाकाव्य के छंदों में दृष्टिगत नहीं होती, परन्तु उनकी प्रभावोत्पादकता को समुन्नत स्तर पर रखने के लिए अनेक विशेष ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग किया गया है जिससे कि वांछित प्रभावों में शैथिल्य नहीं आने पाता। अंग्रेजी के जिन महाकाव्य-लेखकों ने मुक्त छंदों का प्रयोग किया है उन्होंने ऐसे विशेष स्वरित तथा अस्वरित शब्दों की उत्कृष्ट व्यवस्था द्वारा वर्णन की प्रभावोत्पादकता स्थिर रखी है। कुछ विशेष प्रकार के विचारों तथा शिक्षात्मक सिद्धांतों को प्रभावपूर्ण रूप में व्यक्त करने के लिए अंग्रेजी भाषा के द्विपंक्ति छंद^१ ने असाधारण सफलता पाई है। उपहासपूर्ण काव्य के लिए भी यह छंद विशेष रूप में प्रयुक्त हुआ है। यही परम्परा हमें हिंदी-साहित्य में भी दृष्टिगत होगी। कबीर, तुलसी तथा रहीम के दोहा छंद में शिक्षात्मक तथा नीतिविषयक विचार अधिक प्रभावपूर्ण रूप में व्यक्त हुए हैं। परन्तु लंबे वर्णनों में तथा विचारों के अन्यान्य स्तरों को प्रभावपूर्ण रूप में व्यक्त करने के लिए ये छंद कदाचित् सार्थक नहीं हैं।

वर्णात्मक काव्य में जहाँ हमें छंदों की एकरूपता दृष्टिगत होगी, वहाँ गीतकाव्य में छंदों की अपार विभिन्नता मिलेगी। गीतकाव्य ने, मनोनुकूल,

अनेक छंदों के आवरण ग्रहण किये हैं और उनके द्वारा

गीतकाव्य उनमें अपूर्व सौंदर्य की स्थापना भी हुई है। इन गीतों में

साधारणतः विषयाश्रय प्रेम की भावना तथा उसके अनेक

भावानुभावों की अभिव्यक्ति होगी। मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्तियों में प्रेम की भावना को प्रमुख स्थान प्राप्त है और काव्य में इसकी अभिव्यक्ति अगणित रूपों में होती आई है। प्रेमी की आशा तथा निराशा, अनुराग तथा आतुरता, लालसा तथा संताप और प्रेमिका की क्रूरता तथा तिरस्कार, विरक्ति

तथा अवलेहना, व्यंग्य तथा हास्य सभी देशों के गीतों के मूलाधार रहे हैं। इन गीतों में कभी कवियों ने प्रकृति का मार्मिक वर्णन किया तथा मानवीय विचारों से भी उनका साम्य स्थापित किया। कभी उन्होंने नृत्य और जीवन की रंगरलियों का दिग्दर्शन कराया और कभी पुष्पों और मेघ-पुंजों के माध्यम द्वारा प्रेमाराधना की। इन गीतों में कभी तो कवियों ने वास्तविक प्रेमिकाओं से प्रणय की भिक्षा माँगी और कभी कल्पना-क्षेत्र की प्रेमिकाओं से प्रेम के आदान-प्रदान की कल्पना में गीत गाए। यदि इस संपूर्ण गीतकाव्य का विश्लेषण संभवतः हम कर सकते तो हमें यह ज्ञात होता कि प्रायः सभी गीतों के नायक आतुर तथा संताप-युक्त हैं और इतनी ही प्रतिशत नायिकाओं से विरक्त, तिरस्कारपूर्ण तथा क्रूर हैं। कदाचित् प्रेमी के संताप तथा वियोग-विषयक गीत प्रेमिकाओं के तिरस्कार-विषयक गीतों से अधिक आकर्षक तथा प्रभावपूर्ण होते हैं। इसके साथ-साथ वे गीत भी अधिक मार्मिक तथा प्रिय होंगे जिनमें कवि संयोग का वर्णन न कर केवल वियोग का ही वर्णन करता है। इसका मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि मनुष्य की आंतरिक भावनाओं में दुःख तथा शोक के प्रति एक स्वाभाविक संवेदना रहती है। कवियों का यह कथन भी है कि जीवन के सबसे मधुर तथा चिरन्तन गीत वे ही हैं जो सबसे दुःखद भावों पर आश्रित रहते हैं।

अनेक कवियों में गीत काव्य को नये विषयों तथा नूतन परिधानों से सजाया और इसके अंतर्गत अनेक गीत रूपों का वर्गीकरण किया जिनमें स्तुति गीत, राष्ट्रीय गीत, प्रणय गीत, शोक गीत, गौरव गीत, गीतकाव्य का उत्सव गीत तथा चतुर्दशी^१ इत्यादि प्रमुख वर्ग निर्मित हुए। वर्गीकरण इनमें साधारणतः, किसी न किसी रूप में, एक स्थायी छन्द-व्यवस्था निर्मित कर दी गई है जो प्रायः सभी कवियों को मान्य रही है।

यद्यपि गीतकाव्य की सहज आत्मा का आलोचनात्मक विश्लेषण संभव नहीं, फिर भी गीतकाव्य के साधारण लक्षणों की ओर हम सरलता से संकेत कर सकते हैं। गीतकाव्य का प्रमुख गुण संगीत है गीत काव्य के और इसी संगीत के कारण उसकी मार्मिक हृदयग्राहकता गुणः संगीत सदैव प्रभावित रही है। गीत के शब्द तथा उसके छंद दोनों में एक अपूर्व संगीतात्मक समन्वय रहता है, जिसके कारण

पाठकों के हृदय में उनका स्थायी स्थान बन जाता है, इसका प्रमुख कारण यह भी है कि कवि गीत-रचना में सदैव व्यक्तिवादी शैली का प्रयोग कर निजी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करता है। व्यक्ति होने के नाते हम भी उस अनुभूति को अपनी अनुभूति समझने लगते हैं और जो कुछ भी अनुभव कवि के होते हैं उन सबको अपनाकर हम उसी की ही दुनियाँ में जा बसते हैं। उसके वियोग और संताप के क्षण हमारे वियोग और संताप के क्षण बन जाते हैं; उसकी आशा-निराशा हमारी भी आशा-निराशा बन कर हमें झूले झुलाया करती है।

साधारणतः गीतकाव्य में केवल एक ही भावना विशेष का समावेश रहता है। गीत के आदि से अंत तक कवि एक ही भावना, एक ही उद्गार अथवा एक ही अनुभूति का उद्गम, प्रगति, उत्कर्ष तथा एकाकीभावना समाप्ति का विवरण करता है और इसी कारण संपूर्ण गीत में सामंजस्य की भावना सदैव प्रस्तुत होती रहती है जिसके कारण उनकी हृदयग्राहकता और भी बढ़ जाती है। गीत में भावों की अभिव्यक्ति इतने सहज, स्वाभाविक तथा स्वच्छंद रूप में रहती है कि हम सहज ही उस प्रवाह में अपने को डालकर बह चलते हैं। यह भाव-प्रवाह इतना अविरल तथा अबाध रहता है कि हमें पग-पग पर अनेक भावुक संकेत मिलते रहते हैं। और हम उनके पठन-पाठन में खो-से जाते हैं। एक ही भावना पर आधारित होने के कारण यद्यपि इनका रूप छोटा होता है और वर्णन-प्रणाली संक्षिप्त होती है परंतु इनकी लघुता में ही इनकी शक्ति निहित रहती है। और बिहारी के दोहों के समान ये—“देखत में छोटे लंगें, घाव करें गंभीर।” जैसा कि पहले संकेत कर चुके हैं, गीतकाव्य का आकर्षण शाब्दिक विवेचन के परे ही रहेगा। क्योंकि उसके हृदयग्राही माधुर्य में एक अव्यक्त कला रहती है जो आलोचनात्मक शब्दावली की परिधि में नहीं आ पाती। कवि के भावों की तीक्ष्णता उसकी सरल, स्वाभाविक, निष्कपट अभिव्यक्ति को स्पष्ट करने के लिए ऐसी फलप्रद शब्दावली नहीं और व्यक्तिगत अनुभूति ही उसकी श्रेष्ठ आलोचना कहलाएगी।

स्तुतिगीतों के प्रादुर्भाव के संबंध में यह विचार अभिमत है कि जब से मनुष्य की सृष्टि हुई, तब से वह अपने सृष्टिकर्ता का पूजा, अर्चना तथा आराधना करता आया है। पहले-पहल तो उसने प्रकृति के स्तुतिगीत उन स्थलों तथा उन अंगों की पूजा आरंभ की जिनके द्वारा उसके मन में भय और आश्चर्य की भावना प्रवाहित हुई।

सूर्य के प्रचंड तेज, प्रभंजन की शक्ति, वर्षा का प्रबल प्रवाह, काली मेघराशि की विद्युत्-छटा ने उसके हृदय में उपरोक्त दोनों भावों का बीजारोपण किया होगा। और इन दोनों मूल भावनाओं से विह्वल हो आदि-मनुष्यों की टोलियाँ विनत हुई होंगी। प्रकृति के इन भयातुर परिवर्तनों को देखकर, उन्हें देवरूप मानकर उन्होंने अपना मस्तक नत किया होगा और इस विनत अवस्था में स्तुति गीत मुखरित हुए होंगे। इन स्तुति-गीतों में आदि मनुष्य ने सृष्टिकर्ता के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की। प्राचीन युग के यहूदी जाति के गीत^१ तथा आर्यों के ऋग्वेद के मंत्र इसी श्रेणी में आएँगे। ज्यों-ज्यों मानवीय सभ्यता विकसित होती गई और मानवीय आचार-विचार परिष्कृत और तर्कपूर्ण होते गए त्यों-त्यों स्तुति-गीतों की रूपरेखा भी बदलती गई। मनुष्य के मानसिक विकास के साथ-साथ यह परिवर्तन आवश्यक भी था। यही कारण है कि कालान्तर में स्तुति-गीतों की मूल भावनाओं—भय और आश्चर्य दोनों में परिवर्तन होता गया और ये गीत धर्म की परिधि में अपनी प्रेरणा ग्रहण करने लगे।

एतिहासिक रूप में यह विचार भी मान्य होगा कि राष्ट्रीय गीतों का आविर्भाव स्तुति-गीतों के पश्चात् ही संभव हुआ। इन गीतों की प्रेरणा हमें पहले पहल प्राचीन युग के वीरगाथा-काल में दृष्टिगत होगी।

राष्ट्रीयगीत मनुष्य स्वभावतः वीरता का प्रेमी होता है और उसे एक वीर अग्रणी की आवश्यकता सदैव प्रेरित करती रहती है। उस युग में जब-जब वीर विजेता अपने पौरुष की विजय-पताका फहराते तो उनकी जन्मभूमि का भी विवरण उस विरुदावलि में अवश्य आता। भाग्य तथा कवियों ने वीरों की वंशावलि तथा उनकी जन्मभूमि की सराहना आरम्भ की और एक ऐसा समय आया कि इन वीरों का व्यक्तित्व पृथक् होकर, राष्ट्र की प्रशंसा में घुल-मिल गया। राष्ट्र प्रमुख हो गया, वीर गौण। अंततोगत्वा कवियों द्वारा उस भूमि की वंदना होने लगी जहाँ उस वीर ने जन्म लिया, जहाँ की जलवायु ने उसे वीर बनाया और ऐसे वीर को जन्म देकर देश स्वयं गौरवित हुआ।

प्रत्येक देश के साहित्यिक इतिहास में राष्ट्रीय गीतों का स्थान विशिष्ट है। इन गीतों में कवि, केवल अपना ही देशप्रेम नहीं व्यक्त करता अपितु वह समस्त राष्ट्र-हृदय के देशप्रेम को व्यक्त करता है। और यह अभिव्यक्ति

केवल उसके समकालीन व्यक्तियों की राष्ट्रीय भावनाओं को ही नहीं जागृत करता वरन् आगामी युगों की संतानों के लिए भी प्रेरणा का स्रोत बन जाता है। योरोप तथा एशिया के सभी देशों में कोई-न-कोई सर्वप्रिय राष्ट्रीय गीत गाए जाते हैं। फ्रांस का राष्ट्रीय गीत “दि मार्सेले”, इंगलिस्तान का “ईमैरिनर्स ऑव् इंगलैंड” तथा भारत का ‘वन्देमातरम्’ एवं ‘जनमनगण’ राष्ट्रीय गीतों से सभी परिचित हैं। इन गीतों में राष्ट्र की गौरवपूर्ण गाथा, उसके उन्नत आदर्श ओजपूर्ण भाषा में व्यक्त किए जायेंगे।

गीतकाव्य के क्षेत्र में शोकगीत^१, प्रायः कवियों ने अपने मित्रों, संबंधियों, सहपाठियों तथा देश के महान् लोगों के निधन पर शोक-प्रदर्शन के लिए लिखे हैं। स्वाभावतः कविवर्ग, वियोग, विछोह

शोकगीत तथा दुःख और क्लेश के भावों से ही विशेषतः आकर्षित होते रहते हैं और ये दुःखद भावनाएँ मानव के हृदय को सहज ही छूती भी रहती हैं। कभी-कभी कुछ श्रेष्ठ कवियों ने अपने व्यक्तिगत दुःख और शोकपूर्ण अनुभवों को जनसाधारण के जीवन से संबंधित कर दिया और ऐसे शोक-गीत व्यक्तिगत शोक को व्यक्त करके सम्पूर्ण मानव-जीवन की असारता का चित्र खींचने लगे। कभी-कभी कवियों ने व्यक्तिगत दुःख को ग्राम्यजीवन के वातावरण में प्रस्तुत किया और ग्राम्यजीवन के पात्रों की ओर से अपनी वियोग-गाथा का वर्णन किया। इन गीतों में कवियों ने ग्राम्यजीवन के पात्रों को अपने मित्रों और सहपाठियों का प्रतिरूप माना, और अपने को भी उसी जगत् का प्राणी मानकर कल्पना के बलपर अपने वियोग और विछोह का चित्तकर्षक वर्णन किया है। अंग्रेजी भाषा के सभी श्रेष्ठ कवियों : शेक्सपियर, मिल्टन, ग्रे, वर्ड्सवर्थ, शेली, टेनिसन तथा मैथ्यू आर्नल्ड ने उत्कृष्ट शोकगीत लिखे हैं और यही परम्परा हिन्दी गीत-क्षेत्र में भी प्रचलित मिलेगी। शोकगीतों के अन्तर्गत कवियों ने अपने भाव-विस्तार के साथ उनका रूप परिवर्तित किया और अनेक छोटे-बड़े शोकगीतों की रचना की, जिन्हें हम मृत्यु-गीत, वेदना-गीत, संताप-गीत, इत्यादि, वर्गों में विभाजित कर सकते हैं।

शोकगीतों की सफलता दुःखद भावों की स्वाभाविकता तथा वेदना की तीव्रता पर आधारित रहेगी। कवि का दुःख जितना सहज तथा तीव्र होगा उतना ही शोकगीत भी सफल रहेगा। शोकगीतों में, शोक की धारा अविरल तथा अबाध गति से बहनी चाहिए और अन्तिम छन्दों में अपने उत्कर्ष पर

पहुँचकर मानसिक एवं आध्यात्मिक शांति का प्रसार करना चाहिए। दुःख की अविरलता में ही इसका प्राग निहित है। कृत्रिम भावना कृत्रिम शब्दावली इसके लिए घातक होगी।

काव्यक्षेत्र में गीत का वर्णन उपरोक्त वर्गों के अतिरिक्त, गौरव-गीतों का स्थान भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मूलतः गौरव-गीतों की रचना जातीय अथवा राष्ट्रीय उत्सवों के अवसर पर की जाती थी और उसका

गौरव-गीत आकार विस्तृत रहता था। अनेक गौरव-गीत रचयिताओं ने इसके मूल रूप में बहुत से परिवर्तन किये और मनो-नुकूल उन्हें प्रभावपूर्ण बनाया। वास्तव में गौरव-गीत जनसाधारण के सम्मुख गाये जाने के लिए लिखे जाते थे और अनेक मधुर कंठ के व्यक्ति मिलकर सहगान करते थे। प्रायः ऐसे व्यक्तियों की विशिष्ट टोलियों भी बन गई थीं जो सहगायक^१ कहलाते थे। गौरव-गीतों की परंपरा यूनानी^२ तथा रोमीय^३ कवियों के समय से ही चली आ रही है। इन गीतों को गाते समय सहगायक जब प्रथम छंद गाते और विषय-प्रवेश करते तो वे एक ओर मिलकर खड़े हो जाते और गीत के पहले भाग को सस्वर गाते और श्रोता-वर्ग का ध्यान आकर्षित करते। प्रायः गीत के पहले भाग में बारह पंक्तियाँ होती थीं। गीत का पहला भाग गाकर सहगायक श्रोता-वर्ग के दूसरी ओर चले जाते और गीत का दूसरा भाग गाते जिसमें भी बारह पंक्तियाँ होती थी। इन दूसरी पंक्तियों में विषय का उत्कर्ष रहता था और अंत में सहगायक पुनः श्रोता-वर्ग के सम्मुख खड़ा होता और गीत का तीसरा भाग सस्वर गाता। इस अंतिम भाग में सत्रह पंक्तियाँ होती थीं और तीनों भागों में, भावों के उत्तरोत्तर विकास, उत्कर्ष तथा शांति में पूर्ण समन्वय रहता था। कभी-कभी कवियों ने एक ही गौरव-गीत में प्रचलित छंद-परंपरा को कई बार दुहरा कर अनेक लंबे गौरव-गीतों की रचना की।

अंग्रेजी भाषा के प्रायः सभी श्रेष्ठ कवियों ने उच्चकोटि के गौरव गीत लिखे हैं। कुछ ने यूनानी तथा रोमीय छंद-व्यवस्था को अक्षरशः अपनाया और उनका अनुकरण किया और कुछ ने उन प्राचीन शैलियों का अनुकरण अवांछित समझकर नवीन छंद-व्यवस्था निर्मित की और हृदयग्राही गौरव-गीतों की

१. सहगायक—देखिये 'नाटक की परब'—दुखांतकी खंड।

२. पिंडर।

३. हॉरेस।

रचना की। इन कवियों ने मनोनुकूल कभी तुकांत तथा कभी अतुकांत पंक्तियों में गौरव-गीत रचे हैं। श्रेष्ठ कवियों के गौरव-गीतों में भावनाओं के आरोह तथा अवरोह के अनुसार ही छंदों की रूपरेखा परिवर्तित होती चलती है। गौरव-गीतों की श्रेष्ठता, कवि की भावनाओं तथा चिंतन शक्ति के समुचित सामंजस्य पर ही निर्भर रहेगी। भावों की तीव्रता रोचकता लाएगी; चिंतन की मात्रा उसे गौरवित बनाएगी।

अंग्रेजी भाषा के प्रायः समस्त कवियों ने अनेक गीत चतुर्दशी^१ छन्द में लिखे हैं। इस रुचि-वैमिन्न्य से यह प्रभावित होता है कि कवियों ने न तो

अपने भावों को रूढ़िबद्ध होने दिया और न किसी विरोधी छंद-

चतुर्दशी व्यवस्था में ही सीमित रहे। चतुर्दशी का प्रयोग सर्वप्रथम रोमीय^२ कवियों ने ही किया। उसी के अनुकरण-स्वरूप अंग्रेजी भाषा के प्रायः सभी कवियों ने चतुर्दशियों की रचना की है। प्रायः चतुर्दशी के दो भाग होते हैं, पहले भाग में आठ पंक्तियाँ और दूसरे भाग में छह और दोनों भागों की संख्या चौदह होती है। पहले भाग में कवि विषय-प्रवेश करता है तथा दूसरे में उपसंहार प्रस्तुत करता है। कुछ श्रेष्ठ कवियों ने इस रूढ़िवादी छंद-परंपरा में परिवर्तन किए। उन्होंने पहले, दूसरे तथा तीसरे भागों में चार-चार पंक्तियाँ तथा चौथे भाग में केवल दो पंक्तियों का विधान रखा। ये अन्तिम दो पंक्तियाँ दोहे के समान तुकांत रहती थीं। चतुर्दशी छंद में कवियों ने अपनी व्यक्तिगत चेतना, सामाजिक अथवा आध्यात्मिक आदर्श इत्यादि का मनोनुकूल वर्णन किया है। चतुर्दशी की श्रेष्ठता भावों की तीव्रता तथा छंद के दोनों भागों के भावपूर्ण समन्वय में निहित रहेगी। चतुर्दशी छंद में कवियों ने तुकों के अनुसंधान में अपूर्वशक्ति प्रदर्शित की है और दोनों भागों में एक अत्रैकिक सामंजस्य प्रस्तुत कर उच्चकोटि के गीतों की रचना की है। इस गीतविशेष में कवियों ने व्यक्ति तथा समाज से संबंधित अनेक विषयों का आभागरूप रखा। कहा! उन्होंने अपने प्रेम और वियोग के प्रदर्शन के लिए इसका माध्यम चुना, कहीं अपना कर्तव्य-निष्ठा तथा अपने प्रेमादर्श को इसमें मुखरित किया और कहीं प्रकृति तथा जीवन के हृदयग्राही चित्र खींचकर पाठकों को प्रभावित किया।

गीत-काव्य-क्षेत्र के एक अन्य वर्ग के गीत को उत्सव-गीत के नाम से

१. सॉनेट।

२. पिट्रार्क।

संनोधित कर सकते हैं। मानव-समाज आदिकाल से अपने मनोरंजन के लिए अनेक साहित्यिक साधन एकत्र करता रहा है। इन **उत्सवगीत** सामाजिक रंगरलियों के अवसर पर गायन तथा नृत्य का विशेष महत्त्व रहता था। जब-जब राष्ट्रीय अथवा सामाजिक उत्सव होते मनुष्य गोष्ठियाँ बनाकर रुचिकर भोजन करते, सुरापान करते और उत्सव-गीत गाते। वैशाहिक अवसरों, विजय दिवसों, वसंतागमन इत्यादि पर उत्सव-गीत गाये जाते; जिनमें बाल, वृद्ध, वनिता सभी भाग लेते। इन आनंदोत्सवों के अवसर पर लिखे गए गाने योग्य उत्सव-गीतों के आदिरूप में सुरादेवी की कीर्ति का वर्णन रहा करता था। यूनानी अपने समस्त आनंदोत्सवों के अवसर पर सुरादेवी की आराधना किया करते थे और उनको परितोष देने के लिए सुरापान करके रंगरलियाँ मनाते थे। सामाजिक प्रगति के साथ-साथ इन उत्सव-गीतों के विषयों में भी परिवर्तन हुआ और सुरादेवी की मूल आराधना की परंपरा, व्यक्तिगत प्रेम, लालसा तथा उच्छ्वास के नवीन रूपों में परिणत हो गई। सफल उत्सव-गीतों में भावनाओं की सहज स्वच्छंदता तथा उनका तीव्र अविरल प्रवाह ही इनकी श्रेष्ठता के निर्णायक होंगे।

(२)

साहित्य के पूर्वोक्त विवेचन में हमने शैली की व्याख्या करते हुए इसके तीन मूल तत्त्वों की ओर संकेत किया था। इन तत्त्वों में प्रमुख तत्त्व था—शब्द, दूसरा था उनकी व्यवस्था तथा तीसरा उनके माध्यम द्वारा विषय-निरूपण। प्रायः इन्हीं तीनों तत्त्वों के सामंजस्य के फलस्वरूप श्रेष्ठ शैली का जन्म तथा विकास होगा। कवियों द्वारा चुने गए शब्द तथा शाब्दिक व्यवस्था—दोनों ने ही काव्य में आकर्षण प्रस्तुत किया है। कवियों ने ऐसे शब्दों की खोज की जो संकेतार्थों, लक्ष्यार्थों तथा मनोनुकूल ध्वनि से परिपूर्ण थे।

साधारणतः यह देखा गया है कि कवि जिस प्रकार के शब्द प्रयुक्त करेगा वही उसके दृष्टिकोण का भी परिचायक होगा। कवि का प्रमुख उद्देश्य यही रहेगा कि वह पाठकों को शब्दों को विषय सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था द्वारा अपना विशिष्ट संदेश तथा अपना अनुभव पहुँचाए और जो भी माध्यम वह इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए चुने, उसके मस्तिष्क, उसके हृदय तथा उसकी भाव-प्रकाशन-प्रणाली को भी पूर्णतः स्पर्श करे।

पाठकों के हृदय को स्पर्श करने का, साधारणतः, जो साधन कवियों ने

अपनाया है उन्हें अलंकार नाम से संबोधित किया गया है। इन अलंकारों के चयन में कवियों ने अपने गंभीर अनुभव तथा मौलिक अलंकार-प्रयोग दृष्टिकोण का परिचय दिया है। प्रायः सभी कवियों ने उपमा तथा रूपक की शक्ति द्वारा मर्मस्पर्शी अनुभव साकार किये हैं और कभी-कभी ऐसा ज्ञात होने लगता है कि काव्य की संपूर्ण आत्मा उपमा तथा रूपक के माध्यम से ही अनुप्राणित होती है। उपमा तथा रूपक काव्य के प्राणरूप रहकर ऐसे नूतन अनुभव, नवीन विचार तथा मौलिक चित्र प्रस्तुत करेंगे जिसको हम सरलतापूर्वक ध्यान में भी नहीं ला सकते थे। ये दोनों अलंकार अनुभव को एक विचित्र स्तर पर ले जाते हैं, जहाँ हम चमत्कृत हो उनके व्यापक प्रभाव के वशीभूत होकर टगे-से रह जाते हैं। इसका यह अर्थ नहीं की उपमा अथवा रूपक की विचित्रता तर्क के परे रहेगी। तर्क उसका शत्रु नहीं वरन् कल्पनात्मक रूप में उसका सहयोगी रहेगा। कुछ आलोचकों का विचार है कि जब तक काव्य तर्क की परिधि में रहेगा, उसमें काव्य की प्राण-प्रतिष्ठा पूर्ण रूप से नहीं हो सकेगी। और इसी तथ्य को कवियों ने सत्य मानकर काव्य को साधारण तर्क की बेड़ियों से मुक्त कर काल्पनिक तर्क का आश्रय लिया। वदचित् यह विचार भी समीचीन होगा कि बिना इन दो महत्त्वपूर्ण अलंकारों के काव्य पद्य अथवा साधारण गद्य कहलाएगा।

जन्म और मृत्यु हमारे साधारण मानवीय अनुभव हैं। जन्म के समय हम हर्ष मनाते हैं और प्रतिक्षण हँसी फूटती रहती है; मृत्यु के समय हम आँसू बहाते हैं और प्रतिक्षण फूट-फूट कर रोते हैं। ये हमारे साधारण अनुभव हैं परन्तु जब कवि इस साधारण अनुभव को एक विशाल रूप देता है तब हम चकित हो जाते हैं। ये साधारण व्यक्तिगत अनुभव न रहकर अलंकारों द्वारा एक नवीन और विचित्र रूप ले लेते हैं। उनकी तीव्रता तथा तीक्ष्णता और भी गहरी हो जाती है—

“खोलता इधर जन्म लोचन,
मूँदती उधर मृत्यु क्षण-क्षण।”
अभी उत्सव औ हास हुलास।
अभी अवसाद अश्रु उच्छ्वास !
अचिरता देख जगत की आप
शून्य भरता समीर निःश्वास,
डालता पातों पर चुपचाप
ओस के आँसू नीलाकाश !

सिसक उठता समुद्र का मन,
सिहर उठते उड़गन ।

कवि जन्म और मरण को बाल-सुलभ आँख-मिचौनी के रूप में जब प्रदर्शित करता है तब हमें कुछ विस्मय-सा होने लगता है । मृत्यु के अवसर पर हमारा व्यक्तिगत अवसाद तथा उद्ध्वास व्यक्तिगत न रहकर अत्यंत व्यापक रूप में कवि की कल्पना द्वारा प्रकट होने लगता है । हमारा निःश्वास शून्य के निःश्वास का रूप ले लेता है और हमारी आँखों के अश्रुकण नीलाकाश के ओस-बिंदु में परिवर्तित हो जाते हैं; व्यक्तिगत क्रंदन की समाप्ति के पश्चात् सिसकी समस्त जलराशि की सिसकी का रूप ले लेती है; क्रंदन की तीव्रता को संयत करता हुआ व्यक्ति बड़वानल को संयत रखता हुआ समुद्र का रूप ले लेता है । कवि की व्यापक कल्पना हमारे साधारण व्यक्तिगत तथा एकाकी अनुभव को अलंकार-प्रयोग द्वारा एक नवीन स्तर पर ले जाती है, जिसकी विचित्रता एवं मौलिकता हमारे हृदय में मर्मस्पर्शी भावों का संचार करता है । अथवा जब कवि यह कहती है;

“जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी ।
फूटा घट, जल जलहि समाना, यह तत कथहि गियानी ।”

आत्मा और परमात्मा की एकरूपता का अनुभव हमारे तर्क के परे है और इस विशाल अनुभव के लिए हमारा मस्तिष्क सीमित है परंतु जब कवि की कल्पना इस महान् आध्यात्मिक शक्ति को हमारा व्यक्तिगत अनुभव बनाना चाहती है तो यह पुनः अलंकार का आश्रय ढूँढ़ती है । व्यक्ति का शरीर कुंभ-समान है । उसके अंदर सीमित जल परम-आत्मा का एक अंश मात्र है । व्यक्ति का जीवन समाप्त होते ही उसका पंचतत्त्वों से बना हुआ शरीर पंचतत्त्वों से बनी प्रकृति में तिरोहित हो जाता है । जब तक घट जल लिए तैरता रहता है तब तक उसका अलग आकार और अलग सत्ता बनी रहती है परंतु उसके फूटते ही उसका जल विशाल जल राशि में मिल जाता है और एक रूप बनकर अपना आकार और अपनी सत्ता खो बैठता है । कवि ने जहाँ एक ओर अलंकारों की सहायता से हमारे व्यक्तिगत अनुभव को व्यापक बनाया, दूसरी ओर उसने उसी माध्यम द्वारा एक महान् आध्यात्मिक अनुभव को व्यक्तिगत अनुभव-क्षेत्र के अंदर ला दिया । परंतु जैसा कि स्पष्ट है, दोनों में तर्क की मर्यादा भंग नहीं हुई; तर्क एक नूतन और विचित्र स्तर पर प्रतिष्ठित कर दिया गया । काव्यालंकार सतत काव्य को अनुप्राणित करेंगे और नवीन एवं मौलिक

रूप में साधारण अनुभव को असाधारण और असाधारण अनुभव को साधारण अनुभव में परिवर्तित करते रहेंगे ।

साधारणतः यह सिद्धान्त मान्य रहा है कि उपमा, रूपक तथा अन्य अलंकारों द्वारा कवि अमूर्त तथा अव्यक्त को मूर्त रूप देता है । इनके द्वारा कवि जो कुछ कहना चाहता है वह हमारे सम्मुख चित्र उपमा तथा रूपक अथवा मूर्त रूप में प्रस्तुत कर देता है । इन अलंकारों की अभिव्यक्ति-शक्ति में ही काव्य की महत्ता और उसका मूल्य निहित रहेगा । कभी-कभी कवियों ने प्रकृति के परिवर्तनशील दृश्यों, ऋतुओं, पुष्पलताओं इत्यादि को उपमाओं तथा रूपकों द्वारा इतनी चेतना दे दी कि वे अङ्ग सजीव हो उठे और उन्हें वाक्शक्ति प्राप्त हो गई । ऋतुएँ निर्जीव न होकर साकार और प्राणमय होने लगीं । पुष्पलताओं पर लटकती हुई पंखुड़ियाँ कवि के सुख-दुःख की सजीव साथी हो गईं । एकांत में बहते हुए निर्झर भावुक संवाद करने लगे; और प्रातः का मृदुल समीर, ऊषा की अँगड़ाई और उच्छ्वास रूप में प्रदर्शित होने लगा । प्रकृति के अन्यान्य अंगों पर इस चेतना के आरोप को, इसमें संदेह नहीं, कि कुछ कवियों ने यहाँ तक बढ़ाया कि न तो वे प्रयोग आकर्षक रहे और न उनमें किसी मौलिकता के ही दर्शन हुए । यों भी तो अतिशयोक्ति की एक सीमा रहती है जो तर्क की अव्यक्त डोर का सहारा पाते हुए ऊँची उड़ान भरा करती है; परन्तु जब तर्क का सहारा छूट जाता है तब अतिशयोक्ति प्रलाप का रूप ले लेती है और प्रलाप काव्य की आत्मा से कहीं दूर रहता है । किन्तु जब अतिशयोक्ति अपनी सीमा पहिँचानती है और मर्यादित रहकर चेतन और सजीवता से संबन्धित रहती है तो उसका आकर्षण अत्यधिक बढ़ जाता है । इन अलंकारों के प्रयोग में स्वाभाविकता, मर्यादा तथा मौलिकता अपेक्षित रहेंगे और इसी कसौटी पर हम उनके मूल्य का निर्णय कर सकेंगे । कुछ आलोचकों ने तो काव्य को रूपक रूप में ही मूल्यवान् समझा है परन्तु ऐसा दृष्टिकोण कदाचित् अत्यंत एकांगी प्रमाणित होगा । संक्षेप में यदि यह प्रश्न किया जाय कि हम कैसी उपमाओं तथा किन रूपकों को प्रश्रय दें अथवा काव्य के लिए महत्त्वपूर्ण समझें तो उसका सरल उत्तर यह होगा कि जो भी उपमा अथवा रूपक अभिव्यक्ति को बल दे और उसे तीव्र एवं तीक्ष्णतर बनाये वही मूल्यवान् तथा महत्त्वपूर्ण होगा ।

संसार के समस्त साहित्यकारों ने काव्य-रचना में प्रायः अनेक अलंकारों का प्रयोग किया है और उन अलंकारों को काव्य के लिए आकर्षक ही नहीं

वरन् काव्य के लिए अनिवार्य भी प्रमाणित किया है। उपमा तथा रूपक और उत्प्रेक्षा तथा विभावना, अनुप्रास तथा विरोधाभास, श्लेष तथा अतिशयोक्ति इत्यादि ऐसे विशिष्ट अलंकार हैं कि जिनकी सहायता से कवियों ने मानवीय अनुभवों को तीव्रतर बनाकर अमर काव्य की रचना की है।

काव्य की आलोचना के विशिष्ट आधारों की विवेचना के उपरान्त जो महत्त्वपूर्ण आधार शेष रहता है वह काव्य का आकार है। कवियों ने, जैसा

कि काव्य के प्रगतिपूर्ण इतिहास से विदित है, काव्य छन्द की सुंदर अभिव्यक्ति के लिए छंदों का माध्यम चुना है।

परन्तु काव्य तथा छंद के पारस्परिक संबंध में कवियों तथा समालोचकों का विभिन्न मत रहा है। कुछ कवियों ने काव्य के लिए छंद का प्रयोग अनिवार्य प्रमाणित किया है; कुछ ने उसे केवल बाह्य आभूषण प्रमाणित करने की चेष्टा की है; परन्तु कुछ अन्य समालोचकों ने छंद को काव्य में सहज रूप में निहित करने का प्रयास किया है। इन तीन वर्गों के विचारों में कौन श्रेष्ठ एवं मान्य है और कौन नहीं, इसका निर्णय पाठकों की निजी रुचि एवं निजी अनुभव पर ही निर्भर करना चाहिए। परन्तु इस व्यक्तिगत रुचि को सुसंस्कृत तथा हितकर बनाने के लिए श्रेष्ठ कलाकारों की श्रेष्ठ रचनाओं का अध्ययन आवश्यक होगा। और यदि हम ऐसे लेखकों की कृतियों का अध्ययन करेंगे तो यह सरल रूप में स्पष्ट हो जाएगा कि अनेक कलाकारों ने छंद का अध्ययन सहज रूप में अपनाया है। अंग्रेजी भाषा के सभी श्रेष्ठ कवियों ने,

1. अंग्रेजी के सर्वप्रथम कवि चॉसर की समस्त रचनाएँ छंद-युक्त तथा तुकांत पंक्तियों में हैं। स्पेन्सर, सर फिलिप सिड्नी, शेक्सपियर तथा बेन जॉनसन की कविताएँ छन्दों में हैं। मिल्टन की अनेक कविताएँ छन्दबद्ध हैं यद्यपि उनके दो बड़े काव्य 'पैराडाइज़ लॉस्ट' तथा 'पैराडाइज़ रीगेन्ड' मुक्तक हैं। सत्रहवीं शताब्दी के सभी कवियों की कविताएँ छन्दयुक्त हैं। इस युग के मधुर गीतों में छन्दों का बड़ा सफल सहयोग है। अठारहवीं शताब्दी के लेखकों को साधारणतः तुकान्त पंक्ति छन्द अत्यंत प्रिय था और कुछ-एक लम्बी रचनाओं को छोड़कर शेष सभी छन्दों में हैं। पोप, जॉनसन, ग्रे, सभी ने छन्द अपनाये हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में भी वर्ड्सवर्थ तथा बायरन, शेली तथा कीट्स ने छोटी कविताएँ छन्दों में लिखीं। परन्तु वर्ड्सवर्थ तथा शेली और कीट्स की कई लम्बी कविताएँ अतुकान्त भी हैं। बीसवीं शती में हमें अनेक प्रकार

केवल कुछ-एक को छोड़ कर छंदों में रचनाएँ की हैं। और जिन कवियों ने छंदबद्ध कविताएँ नहीं लिखीं फिर भी उन्होंने यति, लय तथा शान्दिक प्रवाह को तो अवश्य ही अपनाया है। प्राचीन संस्कृत-साहित्य पूर्णतः छन्दबद्ध है। यहाँ तक की साहित्य को छोड़कर अन्यान्य विषयों की अभिव्यक्ति भी पद्य में हुई है, जिसके कारणों पर हम अन्यत्र प्रकाश डालेंगे। काव्य की परंपरा ने तो छंदों का स्थान अनिवार्य प्रमाणित किया है; परंतु इसके औचित्य तथा अनौचित्य पर जो मतभेद रहा है उसके प्रमाण में कवियों तथा आलोचकों ने परंपरा, मनोविज्ञान, सौंदर्यशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र इत्यादि के सिद्धान्तों का सहारा लिया है।

साधारणतः आलोचकों ने ऐतिहासिक परंपरा के आधार पर ही छंदों का महत्त्व प्रमाणित करने की चेष्टा की है। उनका कथन है कि प्राचीन कवियों ने ही उच्च-कोटि की श्रेष्ठता प्राप्त की थी और उनका स्थान अब भी सर्वोच्च है। फलतः जो कुछ भी प्रयोग उन्होंने किए और काव्य-रचना के लिए जो भी व्यवस्थाएँ उन्होंने बनाईं उन्हीं का अनुकरण सभी युगों में फलप्रद होगा। और जो कवि काव्य-क्षेत्र में श्रेष्ठता प्राप्त करने की अभिलाषा रखेगा उसे उन्हीं साधनों को अपनाना चाहिए जिनकी उपयोगिता प्राचीन श्रेष्ठताप्राप्त साहित्य-कारों ने सभी युगों के लिए प्रमाणित कर दी है।

कुछ आलोचकों ने छंदों की उपयोगिता प्रमाणित करने के लिए परंपरा का सहारा न लेकर छंद के आंतरिक एवं बाह्य गुणों के आधार पर उसे हितकर ठहराया। उनका विचार था कि काव्य-पंक्ति को छंद द्वारा माधुर्य की प्राप्ति होती है और श्रोतावर्ग को उसको सुनने में एक विचित्र आनंद का अनुभव होने लगता है। कविता छंद की ध्वनि का सहारा पाकर अपने सौंदर्य का उच्चतम निखार प्राप्त कर लेती है और श्रुतिप्रिय काव्य हमें सहज ही चित्ताकर्षक लगता है। इसी के द्वारा काव्य में लालित्य का प्रकाश होता है और काव्य इसी गुण के कारण हममें मधुरतम अनुभवों की सृष्टि करता है। बिना छंद के काव्य में माधुर्य तथा लालित्य कठिनता से ही आ सकेंगे। इसके साथ-

के छन्द-प्रयोग देखने को मिलते हैं, परन्तु आजकल साधारणतया कवि छन्दों के विरुद्ध होते जा रहे हैं। ऐसी ही परिस्थिति हिन्दी-साहित्य में भी मिलेगी। वीरगाथा काल के प्रायः सभी कवि, भक्तिकाल के समस्त लेखक तथा रीतिकाल सभी कलाकारों की कृतियाँ छन्दों में हैं। अतुकान्त कविताओं की रचना बीसवीं शती में लिखी जाने लगी है।

साथ छंद में मानव-हृदय को प्रभावित करने की अपूर्व शक्ति रहती है। उसके द्वारा मानवीय आत्मा को एक विचित्र, अकथनीय आनंद की प्राप्ति होती है। उसमें एक रहस्यपूर्ण गुण निहित रहता है जो वैज्ञानिक विश्लेषण के परे रहेगा। यों भी छंद काव्य की आत्मा में निहित है और वह काव्य-सुन्दरी का एक महत्वपूर्ण तथा आकर्षक आभूषण भी रहेगा।

कुछ आलोचकों का विचार है कि छंद काव्य के सहज प्रभाव में अवरोध प्रस्तुत करता है और कविता अपने सहज रूप में प्रवाहित न होकर, छंद की जटिल बेड़ियों पहन कर पंगु हो जाती है। परंतु कुछ अन्य आलोचकों ने इस सिद्धांत का समाधान, आगामी युगों में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से सहज ही में कर दिया। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से छंद, काव्य की कल्पनात्मक विच्छृंखलता को नियंत्रित करता है, भावों में संतुलन ले आता है और इस संतुलन के द्वारा ही उसमें रोचकता आती है। छंदहीन काव्य सौंदर्यविहीन नारी के समान होंगे जिनके समस्त सौंदर्यपूर्ण आभूषणों का अपहरण कर लिया गया है। दार्शनिक सिद्धान्तों का आधार लेकर भी कुछ विचारकों ने छंद की उपयोगिता प्रमाणित करने का प्रयास किया। उनका विचार है कि समस्त विश्व में एक रहस्यपूर्ण संतुलन है और इस संतुलन में एक प्रकार का लय है जो प्रकृति में अन्तर्हित है। ऋतुओं के सामयिक परिवर्तन में, प्रभात से लेकर रात्रि तक के प्रत्यावर्तन में, बीजारोपण से लेकर वृक्ष की अवस्था तथा उसके पश्चात् भी एक प्रकार का तारतम्य प्रस्तुत रहता है जिसे विश्व की आत्मा एक रहस्यपूर्ण समन्वित रूप में परिचालित करती रहती है। और जब विश्व में ऐसा समन्वय, ऐसा तारतम्य तथा ऐसा लय निहित है तब काव्य में लयपूर्ण छंद भी आवश्यक होगा। काव्य प्रकृति का अनुकरण करता है और जब वह उसके लय का भी अनुसरण करेगा तो वह प्रकृति की आत्मा के और भी समीप आएगा और उसकी प्रभावोत्पादकता बढ़ेगी। संक्षेप में ऐतिहासिक, साहित्यिक मानसिक, मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक दृष्टिकोणों से काव्य में छंद का प्रयोग अत्यन्त आवश्यक होगा। सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से तो समस्त विश्व ही एक छंदपूर्ण काव्य है।

दूसरे वर्ग के कवियों तथा आलोचकों ने छंद का विरोध किया। उन्होंने सिद्धान्त रूप में यह प्रमाणित किया कि केवल परंपरा के आधार पर छंद की महत्ता प्रमाणित नहीं की जा सकती। यद्यपि संसार के श्रेष्ठ कवियों ने छंद का प्रयोग किया परंतु तर्क रूप में यह नहीं कहा जा सकता कि बिना छंद के काव्य-रचना हो ही नहीं सकती। वास्तव में काव्य बिना छंद के भी लिखा

जा सकता है; यही नहीं काव्यानुभूति तो हमें गद्य के माध्यम के द्वारा भी मिलती है। फलतः यह परंपरा आगामी युगों के लिए पथप्रदर्शक नहीं हो सकती। उनका यह भी विचार था कि छंद, काव्य के प्रभाव में, अवश्य ही अवरोधक रहेंगे; और जैसा कि कुछ आधुनिक युग के कवियों का विचार है, वे काव्य को गतिहीन तथा निष्प्राय बनाएँगे। बिना छंद के काव्य में एक नैसर्गिक प्रवाह रहेगा और इस नैसर्गिक प्रवाह को छंद की बेड़ियों पहनाना अनुचित होगा। छंद तो यों भी भाषा की स्वाभाविकता को नष्ट करते हैं और उसमें कृत्रिमता ले आते हैं। विरोधी दल के विचारकों ने छंद को केवल काव्य का बाह्य आभूषण ही माना है और उन्होंने काव्य की आत्मा से उसका कोई भी संबंध परिलक्षित नहीं किया। छंद-विरोधी कवियों ने अतुकांत तथा मुक्तक रूप में अनेक कविताएँ अपने सिद्धान्त के समर्थन में प्रस्तुत कीं परंतु उन कविताओं में भी जहाँ छंद को पूर्ण रूप से बहिष्कृत किया गया, गति और लय का विशेष ध्यान रखा गया। और विचारक अपने विरोधी उत्साह में यह भूल गए कि गति और लय स्वतः ही छंद के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। वास्तव में छंद, लय तथा गति का बाह्य रूप रहेगा और बिना गति तथा लय के छंद की कल्पना भी नहीं हो सकेगी। उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर हम मनोनुकूल निर्णय पर स्वयं पहुँच सकते हैं। सच तो यह है कि मानव के रुचिवैभिन्न्य ने कभी भी किसी एक सिद्धान्त को अटल नहीं प्रमाणित किया और कवियों तथा पाठक-वर्ग ने अपनी रुचि के अनुसार ही छंद की उपयोगिता तथा प्रभावोत्पादकता को सराहा अथवा उसकी अनावश्यकता प्रमाणित की।

काव्य की आलोचना के मार्ग में जिस तत्त्व के प्रति हमें तर्क रूप में सजग रहना चाहिए वह भावुकता से संबंधित होगी। यों तो मानवीय भाव ही

काव्य के मूलाधार रहेंगे; परन्तु ये मानवीय भाव जब **भावुकता** अतिशयोक्ति के रूप में आते हैं अथवा विकृत एवं रुग्ण रूप में प्रदर्शित होते हैं तो उनके कारण काव्य की मर्यादा गिरने लगता है और हमें कवि की प्रतिभा पर संदेह होने लगता है। प्रायः जीवन के अन्य सभी पहलू जो भाव को जन्म देते हैं, सहज ही भावुकता में भी परिणत होते रहते हैं। साधारणतः भाव की विकृतावस्था अथवा रुग्णावस्था को भी हम भावुकता के नाम से संबोधित करेंगे। उदाहरण के लिए, कवि कोई मानवीय दृश्य देखता है और उस दृश्य के द्वारा उसमें जो मनोभाव उपजते हैं कल्पना से प्रेरणा पाकर काव्य-रूप में अवतरित होने लगते हैं; परंतु इस अवतरण में कवि में भावों को एक कृत्रिम उत्कर्ष पर लाने की लालसा

बनी रहती है। और जब इस कृत्रिम उत्कर्ष को प्राप्त करने की लालसा उसे वशीभूत कर लेती है तब वह सहज ही भावुकता की ओर चल पड़ती है। वह अपनी कल्पना को निर्द्वन्द्व, अपनी परिकल्पना को स्वच्छंद तथा अपने भावों को पूर्णतः स्वतंत्र करने लगता है। नियंत्रण तथा मर्यादा-रक्षा वह भूल-सा जाता है, जिसका फल यह होता है कि सहज भाव कृत्रिम हो उठते हैं। आग्रह दुराग्रह बन जाता है; तीव्रता तथा तीक्ष्णता चीत्कार का रूप ले लेती है। कवि ऐसी शब्दावली को अपनाने लगता है जो भावों पर नियंत्रण न रखकर उन्हें कृत्रिम रूप देने लगती हैं।

काव्य की आत्मा का विश्लेषण करते हुए हमने पिछले पृष्ठों में शब्दचयन तथा शब्द-प्रयोग को महत्वपूर्ण प्रमाणित किया था; और जब कवि भावुकता में प्रेरित होकर शब्दों का चयन करेगा तब उसे ऐसे शब्द आकर्षक लगेंगे जो संयत और नियंत्रित प्रयोग में नहीं आना चाहेंगे। दुःखद दृश्यों अथवा व्यथा-पूर्ण भावों का जब वर्णन आता है तब कवि को भावुकता के क्षेत्र में आने की सतत आशंका बनी रहेगी। उसी प्रकार सुख-सौख्य-जन्य भावनाओं के प्रदर्शन में भी कभी-न-कभी यह आशंका बनी रह सकती है। हमारा मनोवैज्ञानिक अनुभव हमें यह बतलाएगा कि शोक और व्यथा अपने संयत और नियंत्रित रूप में भी अधिक प्रभावपूर्ण रहती हैं और निशाने पर तीर ऐसा बैठता है जैसा कि हम बिहारी के दोहों की ओर संकेत करके प्रमाणित कर चुके हैं। व्यथित नारी की डबडबाई हुई आँखें; शोक के आवेग में स्वेदाभिषिक्त आकृति; चीत्कार और प्रलाप से कहीं अधिक आकर्षक और प्रभावपूर्ण होंगे। नियंत्रित व्यथाएँ सिसकी के रूप में कहीं अधिक प्रभावशालिनी होंगी और उसके विपरीत विह्वलप्रलाप हमें भावुकता के क्षेत्र में लाने के फलस्वरूप सुसंस्कृत पाठकों को आकर्षक नहीं लगेगा। इसका सहज मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि जिन भावनाओं को हमारा शारीरिक संकेत स्पष्ट रूप में व्यक्त करेगा वे निम्न कोटि की होंगी, उनकी पार्थिवता उन्हें स्थूल बनाएगी और हमें ऐसा ज्ञात होगा कि इस व्यक्ति की व्यथा में इसका शरीर चीत्कार कर रहा है। और हम उस दृश्य की देखते ही उससे या तो विमुख होने की चेष्टा करेंगे अथवा उसे कृत्रिम समझ कर उस पर संदेह करने लगेंगे। इसके विपरीत जब हमारी व्यथाएँ, सजल आँखों, सिसकती वाणी तथा फड़कते ओठों द्वारा संयत एवं मानसिक रूप में प्रदर्शित होगी तब वे कहीं अधिक प्रभावशालिनी बन जाएँगी। मानसिक संयम एवं नियंत्रण द्वारा जो भी अभिव्यक्ति होगी वह कहीं अधिक हृदयग्राही होगी। मानसिक नियंत्रण में हमारी दुःखद भावना उच्चस्तर पर लेती है और

अपनी सूक्ष्मता तथा अस्पष्टता के कारण ही मनोमुग्धकारी बन जाती है। कदाचित् यही कारण है कि कवियों को मध्याह्न की चिलचिलाती धूप के विपरीत ऊषा की प्रथम किरण ही अधिक रुचिकर रही है और पूर्णिमा की अविच्छिन्न छाया के विपरीत बादलों की ओट में आँखमिचौनी खेलता हुआ चाँद ही अधिक प्रिय रहा है। कवि की व्यथाएँ जब “टकराती”, “बिलखाती” रहती है तो वह भावुकता के क्षेत्र में रहता है ;—

“आती है शून्य क्षितिज से
क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी ?
टकराती बिलखाती सी,
पगली सी देती फेरी !”

परन्तु जब उसकी व्यथा सरल तथा केवल करुणार्द्र रहती है तो यह भावना-क्षेत्र में पुनः लौटकर श्रेष्ठ स्तर प्राप्त करती है :—

“चातक की चकित पुकारें,
इयामाध्वनि सरल रसीली ।
मेरी करुणार्द्र कथा की,
डुकड़ी आँसू से गीली ।
सुख आहत, शान्त उमंगें,
बेगार साँस ढोने में ।
यह हृदय समाधि बना है,
रोती करुणा कोने में ।”

उपरोक्त विश्लेषण में से कदाचित् कुछ पाठक इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि काव्य में भावुकता का स्थान अत्यन्त निकृष्ट है और उसे काव्य में कभी भी किसी रूप में कोई स्थान नहीं मिलना चाहिए; इस प्रकार की धारणा का भी संशोधन आवश्यक है। साधारणतः संसार के नर-नारी किसी विशेष अवस्था में अवश्य भावुक रहते हैं। जिस प्रकार पूर्णिमा में ही ज्वारभाटा का दृश्य उपस्थित होता है, उसी प्रकार मानव-जीवन की सभी बदलती हुई अवस्थाओं में भावुकता आग्रहपूर्ण हो उठती है। बालकों की किलकारी, युवाओं के चीत्कार और वृद्धावस्था के क्रंदन इसी भावुकता के प्रदर्शन रूप होंगे और इनका मानव-चरित्र की प्रगति में कुछ-न-कुछ तो स्थान अवश्य ही है। किलकारी को मुस्कान रूप में, चीत्कार को मौनव्यथा में

और क्रंदन को निःश्वास में परिवर्तित होने में कुछ समय अवश्य लगता है और ये जीवन की प्रगति के क्रियात्मक अंग हैं। परन्तु इतना होते हुए भी श्रेष्ठ कवि को इनके प्रति सजग रहना होगा और जब भी ऐसे अनुभवों की अभिव्यक्ति के अवसर आयें उन्हें संयम और नियंत्रण का मनोनुकूल तथा अवसर के अनुकूल सहारा लेना अवांछित न होगा।

काव्य की आलोचना के संबंध में जिन सिद्धान्तों का निरूपण पिछले पृष्ठों में प्रस्तुत किया गया है, उसके आधार पर हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि काव्य एक ऐसा व्यापक शब्द है जिसके अंतर्गत

उपसंहार हम अनेक प्रकार की साहित्यिक अभिव्यक्तियों की गणना

कर सकेंगे। यों भी साधारणतः काव्य के मूलवर्ग के अंतर्गत मुक्तकाव्य तथा दृश्यकाव्य के वर्ग निर्मित करते हुए काव्य का वंश-वृक्ष इतना विस्तृत तथा व्यापक है कि हम उसके अंतर्गत महाकाव्य-संचित एवं साहित्यिक—तथा खंड काव्य, नाटक, गीत, उपन्यास, निबंध इत्यादि सभी को उसके स्वरूप में वर्गीकृत कर सकते हैं; क्योंकि जिस प्रकार काव्य साधारण साहित्यिक अभिव्यक्ति का एक साधन है उसी प्रकार उपरोक्त वर्ग भी साधन हैं। काव्य की महत्ता हमने इसलिए प्रमाणित की है कि वह साहित्यिक अभिव्यक्ति का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा उत्कृष्ट साधन है। और उसके माध्यम द्वारा जो कुछ भी हम पाते हैं उसका मूल्य और उसका महत्त्व अनंतकाल के लिए सुरक्षित हो जाता है।

परन्तु इस वर्गीकरण का एक दूसरा महत्त्व भी है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हम एक ही मापदंड से काव्य के सभी वर्गों का मूल्य और उनके महत्त्व को परखने लगते हैं, जिसके कारण हमारी आलोचना विकृत हो जाएगी। इसमें संदेह नहीं कि काव्य के सभी वर्गों में हमें उसके मूल्य तत्त्व, किसी-न-किसी मात्रा में अवश्य मिलेंगे परन्तु इन सबको इसी गुण के आधार पर परखने में हम पथभ्रष्ट हो जाएँगे। फलतः हमें महाकाव्य को महाकाव्य के रूप में, गीत को गीत के रूप में, नाटक को नाटक के रूप में तथा अन्याय वर्गों को उनके स्थायी रूप के आधार पर ही परखना होगा। सभी वर्गों की अपनी-अपनी विशेषता होगी और हमारे लिए फलप्रद यही होगा कि हम सब में काव्य के मूल तत्त्वों के अतिरिक्त उनकी सहज विशेषताओं के आधार पर उनकी आलोचना करें। और अब हम इस सिद्धान्त को पूर्णतः हृदयंगम कर लेंगे तो हम साहित्यिक अभिव्यक्ति के अनेक

माध्यमों की आलोचना श्रेष्ठ स्तर पर कर सकेंगे। साधारण जीवन में भी उदाहरण के लिए हम सबको एक ही मापदंड से नहीं परखते और न इस बात पर ही क्षोभ प्रदर्शित करते हैं कि सब एक-दूसरे के समान क्यों नहीं हैं। हम कमल में गुलाब की आकृति और उसका पराग और उसकी सुगन्धि नहीं ढूँढ़ते; और न जुही में ही कमल का रंग और उसकी सुगंधि पाने की आशा करते हैं। स्मरण रहे कि कमल, गुलाब और जुही, सभी पुष्प हैं और पुष्प होते हुए भी एक-दूसरे से विभिन्न हैं, उनकी अलग-अलग विशेषताएँ हैं और यदि हमें उनके सम्पूर्ण रूप को परखना हो तो हमें कमल, गुलाब और जुही को उनकी विशिष्टताओं के अंतर्गत ही परखना पड़ेगा। श्रेष्ठ महाकाव्य वही होगा जिसमें महाकाव्य की विशेषताएँ होंगी और श्रेष्ठ गीत वही कहलाएगा जिसमें गीत के समस्त तत्त्वों का आकर्षक प्रदर्शन होगा। कभी-कभी नाटकों में हमें कुछ ऐसी पंक्तियों के दर्शन होंगे जिनमें काव्य की आत्मा पूर्णतः सुखरित रहेगी, फिर भी उन पंक्तियों को हमें उनके नाटकीय महत्त्व के आधार पर ही परखना चाहिए।

कुछ आधुनिक आलोचकों ने उपरोक्त सैद्धान्तिक विवेचन के विपरीत काव्य के सभी वर्गों में एक-दूसरे के तत्त्वों का अनुसंधान शुरू कर दिया है और उनकी दृष्टि में इन सभी वर्गों में कोई मौलिक विभिन्नता नहीं। इस भ्रामक सिद्धान्त के कारण आलोचना-क्षेत्र में विच्छिन्नत्व आने की आशंका होगी। अतएव श्रेष्ठ आलोचना के लिए हमें सभी साहित्यिक वर्गों की विशेषताओं से परिचित होना चाहिए। गीत, नाटक, उपन्यास, निबन्ध इत्यादि और सभी के आन्तरिक तथा बाह्य आकार तत्त्वों का परिचय प्राप्त करने के पश्चात् ही हम उनकी तर्कयुक्त तथा विशिष्ट आलोचना कर पाएँगे।



उपन्यास

उपन्यास के आदि रूप का यदि हम अनुसंधान करें तो हमें यह शत होगा कि जिस प्रकार मानवीय सभ्यता प्रगति करती आई है उसी प्रकार अथवा उसी के साथ-साथ उपन्यास की कला भी उपन्यास का आदिरूप विकसित होती चली है। कहानी की कला तथा उपन्यास की कला दोनों में ही हमें अत्यधिक साम्य दृष्टिगत होगा। और जिस प्रकार कहानी प्रत्येक युग में, बालकों से लेकर वयस्क मनुष्यों तक को आकर्षित करती आई है, उसी प्रकार और उसी मात्रा में उपन्यास के प्रति भी मानवीय आकर्षण सतत बना रहा है और भविष्य में भी बना रहेगा। हम उस युग की सहज ही कल्पना कर सकते हैं जब मानव-समाज के आदि-इतिहास में पहले-पहल बालक ने अपनी माता से कहानी सुनने का आग्रह किया होगा और उसी युग से आज तक कहानी तथा उपन्यास [जो अनेक तत्त्वों के कारण उसका विकसित रूप रहेगा] अपना आकर्षण सुरक्षित किए हुए हैं। कहानी का आकर्षण युग-युगान्तर से ही चला आ रहा है और जब कोई पाठक कोई भी उपन्यास पढ़ते समय यह आग्रह करे कि पहले उसे कहानी का आनन्द मिले, तत्पश्चात् वह किन्हीं अन्य तत्त्वों के आनन्द की अपेक्षा करेगा तो उसका आग्रह स्वाभाविक ही होगा। कदाचित् यही कारण है कि उपन्यास के बीज रूप में हमें कहानी के दर्शन होते हैं।

कहानी-कला के विकास का यदि अनुसंधान किया जाय तो प्रायः हमें ज्ञात होगा कि पहले-पहल का मूल तत्त्व आश्चर्य की भावना रहा होगा और इसी आश्चर्य की भावना ने अनेक पौराणिक कथाओं का रूप ले लिया होगा। मानवीय चरित्र के विकास का इतिहास हमें यह स्पष्ट बतलाता है कि मनुष्य ने अपनी पार्थिव कठिनाइयों का सुलझाव दैवी शक्तियों की सहायता से प्राप्त किया होगा अथवा अपने सहज जीवन में दुःख और त्रास का अनुभव भी दैवी कोप के अन्तर्गत ही समझा होगा। फलतः कहानियों के आदि-रूप में हम पार्थिव एवं दैवी जीवन का अपूर्व सम्मिश्रण देखेंगे। और इसमें सन्देह नहीं कि इसी सम्मिश्रण के फलस्वरूप कहानी का सम्पूर्ण आनन्द तथा उसका रस मानव-समाज सतत अनुभव करता आया है।

साधारणतः हम यह देखेंगे कि संसार की पहली कहानियाँ पौराणिक देवी और देवताओं को ही नायक और नायिका रूप में रखकर लिखी गईं अथवा मौखिक रूप में कही गईं। परन्तु देवी-देवताओं का प्रेम-भाजन अथवा कोप-

भाजन मनुष्य क्योंकर होता, उसके लिए तो राजा और रानी ही उचित पात्र होते। इसी कारण राजवंश के राजा और रानी कहानी के प्रमुख पात्र हो गए और देवी-देवता धीरे-धीरे एक रहस्यपूर्ण पृष्ठभूमि में रहकर ही उनके जीवन को परिचालित करने लगे। वे उनकी पार्थिव कठिनाइयों को सुलझाते रहे और उनके अद्वैती शत्रुओं से उन्हें सुरक्षित रखते चले। परन्तु राजा-रानी की कहानी, जो साधारण सामाजिक अनुभव के परे थी, कब तक साधारण समाज को आकर्षित करती? फलतः अपनी विकसित एवं परिपक्वावस्था में साधारण समाज ने स्वयं अपने को उनके स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया और आज के युग में साधारण समाज का व्यक्ति ही कहानी का अधिनायक बन गया और जो कुछ भी हम देखते-सुनते अथवा सोचते-विचारते हैं, कहानी का यथार्थ एवं मूलरूप हो गया है।

आधुनिक सभ्यता की जटिलताओं ने आदिकाल के मौखिक कहानीकार को देश-निकाला-सा दे दिया है। एक समय ऐसा था जबकि राजकवि और कहानीकार दोनों की एक-सी प्रतिष्ठा थी, एक-सा मान था। जहाँ राजकवि राजा का यशोगान करता था, वहाँ कहानीकार भी अपनी आकर्षक वर्णन शैली द्वारा राजदरबार का मनोरंजन किया करता था। कदाचित् गाँवों की चौपालों में बैठा हुआ कहानीकार उसी प्राचीन कहानीकार का आधुनिक रूप परिलक्षित कराएगा और आज के लोक-गीत एवं लोक-गाथाएँ प्राचीन कहानियों के आदिरूप की प्रतिच्छाया प्रस्तुत करेंगी।

कहानी के इस इतिहास से यह भी पता चलता है कि हमारी आदि-कहानियाँ नृत्यगीतों^१ के रूप में ही प्रस्तुत की गई थीं और अपने काव्यात्मक अंश के कारण अत्यधिक लोकप्रिय रही होंगी। ज्यों-ज्यों कालान्तर में कहानी का रूप विकसित होता गया, काव्यात्मक अंश बिदा होते गए और एक समय ऐसा आ गया जब कहानी ने अपने काव्यात्मक अंश को पूर्णतः निष्काशित कर गद्य रूप अपनाया और यथार्थ से अपना अटूट सम्बन्ध स्थापित कर लिया।

साहित्य-क्षेत्र में कदाचित् उपन्यास को ही सर्वप्रिय एवं लोकप्रिय होने का श्रेय प्राप्त है। यों तो काव्य, नाटक, निबंध इत्यादि के प्रति भी पाठकवर्ग मनोनुकूल आकृष्ट हुआ है परन्तु उपन्यास के उपन्यास की प्रति प्रायः सभी वर्गों की आस्था बनी रही और सबने लोकप्रियता अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उसके पठन-पाठन से आनंद

१. देखिए 'काव्य की परख',—'नृत्यगीत'।

प्राप्त किया। इसका मुख्य कारण यह है कि उपन्यास का क्षेत्र ऐसा है कि उसमें सभी प्रकार की विचारधाराओं, सभी प्रकार के आदर्शों और सभी प्रकार के जीवन का आकर्षक, विशद एवं महत्वपूर्ण प्रदर्शन रहता है। इसका क्षेत्र इतना विशद है कि काव्य तथा नाटक उसकी तुलना में कदाचित् पीछे रह जाएँगे। उपन्यासकारों ने शायद ही जीवन का कोई ऐसा अंश हो जिसे उपन्यास में स्थान न दिया हो, जिसके फलस्वरूप दर्शनशौ, विज्ञानवेत्ताओं, अर्थशास्त्रियों, मनोविज्ञानज्ञों, राजनीतिज्ञों इत्यादि सभी ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उसके पठन-पाठन द्वारा संतोष प्राप्त किया है। इस सर्वप्रियता का एक अवांक्षित फल यह हुआ है कि हम उपन्यास को कला की दृष्टि से न परखकर अपनी एकांगी विचारधारा के सहारे ही परखना चाहते हैं और यह भूल जाते हैं कि उपन्यास जीवन-चरित्र के अतिरिक्त साहित्यिक कला का एक विशिष्ट माध्यम भी है।

उदाहरण के लिए हमें कुछ ऐसे लेखकों का स्मरण हो आयेगा जिन्होंने किसी एक प्रकार के जीवन-चित्रण अथवा किसी एक विचारधारा अथवा आदर्श विशेष के प्रतिपादन में अनेक उपन्यास लिख डाले और ये रचनाएँ यद्यपि उपन्यास के नाम से संबोधित होती तो वहीं परंतु वे प्रधानतः लेखक की वैज्ञानिक विचारधारा के प्रसार का माध्यम मात्र रह जाती थीं। इस प्रचारपूर्ण उपन्यास-साहित्य ने आलोचना-क्षेत्र में विशेष रूप से विषमता प्रस्तुत कर दी और हम उपन्यास के आधारों के सिद्धान्तों तथा उसकी कला से कदाचित् अनभिज्ञ होते जा रहे हैं। और आज जब हमारे साहित्य का नव-निर्माण हो रहा है यह आवश्यक प्रतीत होगा कि हम उपन्यास के मूल तत्वों को हृदयङ्गम करें और उसकी कलात्मक रूप-रेखा से परिचित हो जायें।

यदि हम व्यापक रूप से उपन्यास-साहित्य पर दृष्टि डालेंगे तो हमें यह आभास मिलेगा कि उपन्यास भी एक प्रकार का काव्य है। जिस प्रकार काव्य की परिभाषा बनाने तथा उसके वर्गीकरण में हमने उपन्यास के मूल अंग नाटक-महाकाव्य इत्यादि को उसके अंतर्गत ही स्थान कार्य-प्रदर्शन दिया था, उसी प्रकार उपन्यास का भी स्थान काव्य के अन्तर्गत ही रहेगा। काव्य के व्यापक अनुसंधान के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि शब्दप्रयोग द्वारा वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति करता है और उसका प्रमुख उद्देश्य मूलतः किसी कार्य का प्रदर्शन मात्र रहता है। फलतः यह सिद्ध है कि जब काव्य कार्य का प्रदर्शन

मात्र है तो उसके अंतर्गत उपन्यास में भी किसी-न-किसी कार्य का प्रदर्शन रहेगा। परंतु अपने वर्ग के अनुकूल उसकी कुछ विशेषताएँ रहेंगी। प्रायः उसमें सभी प्रकार के कार्यों का प्रदर्शन संभव नहीं हो सकेगा और वह केवल कुछ विशेष प्रकार के कार्यों से ही संबंधित रह पाएगा; उनकी अलग सीमाएँ होंगी और उनकी एक विशेष मर्यादा भी रहेगी। महाकाव्य के अंतर्गत हमने अनेक प्रकार के काव्यों का विश्लेषण प्रस्तुत किया था और उनकी सीमाएँ निर्धारित की थीं, उसी प्रकार यह वांछित ही होगा कि हम उपन्यास के साहित्यिक माध्यम की आत्मा तथा उसकी कला को वैज्ञानिक दृष्टि से परख लें।

काव्य की समीक्षा में हमने छह सिद्धान्त निर्धारित किए थे कि कवि, काव्य-रचना के लिए कुछ विशेष साधनों का सहारा ढूँढ़ता है। उसी प्रकार चित्रकार रंगों, कूँची तथा कागज़ का सहारा लेता है और मूर्तिकार छेनी और पत्थर के साधन अपनाता है। कवियों ने शब्द तथा छंद के साधनों द्वारा काव्य को जन्म दिया उसी प्रकार उपन्यासकार ने भी शब्द एवं गद्य-पद्य के साधनों द्वारा उपन्यास का निर्माण किया है। फलतः हमें वह मूल सिद्धान्त ध्यान में रखना होगा कि शब्दों और उनके गद्य-रूप की कौन-सी सीमाएँ हैं और कैसी उनकी मर्यादा है। साधारणतः हमने काव्य को पद्य रूप में ही आकर्षक समझा है परन्तु इसके विपरीत उपन्यास को गद्य रूप में ही परखना पड़ेगा। यों तो साहित्य के कुछ अन्य वर्गों ने भी गद्य का माध्यम^१ अपनाया है परन्तु उपन्यास के गद्य-प्रयोग और साहित्य के अन्य वर्गों के गद्य-प्रयोग में व्यापक अन्तर दृष्टिगत होगा। और वह अन्तर पहले-पहल उनके विस्तार में दिखलाई देगा।

नाट्य-साहित्य^२ के इतिहास के अध्ययन द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके हैं कि किस प्रकार नाटकों में आरम्भ के दो पात्रों से लेकर अनेक पात्रों की सृष्टि हुई और एक अंक से लेकर ६ अंकों तक विस्तार उसका विस्तार बढ़ाया गया; उसी प्रकार उपन्यास के विस्तार में भी परिवर्तन होता रहा है। कुछ शतियों में तो लेखकों ने उपन्यास को १४, १५ खंडों में समाप्त किया और दूसरी अन्य

१—नाटक इत्यादि

२—देखिए—‘नाटक की परख’।

शतियों में दो-चार खंडों में उनकी समाप्ति हुई।^१ प्रायः नाटकों का प्रदर्शन दो-चार घंटों तक सीमित रहा परंतु उपन्यास का विस्तार विषय तथा लेखक की विचारधारा के अनुसार कितने भी पृष्ठों का हो सकता है। इस दृष्टि से हमें यह निश्चय करना होगा कि वे कौन-से ऐसे कार्य हैं जो उपन्यास में पूर्ण विकास पाएँगे। अथवा उपन्यासों के लिए कैसे कार्यों का विवरण एवं विवेचन कला की दृष्टि से उपादेय होगा। हम यह निश्चित कर ही चुके हैं कि उपन्यास का साधन गद्य होगा और जो भी विषय गद्यरूप में अपना पूर्ण विकास पाएँगे उन्हीं का विश्लेषण पूर्णतः अध्ययन के लिए उचित होगा।

उपन्यास के मूल बाह्य आधार—गद्य की दूसरी विशेषता यह है कि इसके द्वारा हम जीवन के सभी दैनिक कार्य करते हैं तथा समस्त दैनिक आदान-प्रदान गद्य के ही माध्यम द्वारा होता है। इस आदान-प्रदान के लिए पद्य न तो फलप्रद होगा और न उपयोगी; क्योंकि साधारण जीवन की घटना और आचार-विचार गद्य द्वारा ही सफल रूप में व्यक्त हो सकेंगे। केवल साहित्यिक रूढ़ि ही नहीं वरन् अपनी साहित्यिक क्षमता के कारण भी गद्य हमारे यथार्थ और साधारण जीवन से संबंधित हो गया है। अतः उपन्यास से भी इसका संबंध अटूट रहेगा।

इस अटूट संबंध का उदाहरण मिलता है कि उपन्यास स्वतः एक कहानी ही है अथवा मानवीय-कार्य व्यवस्था है जो हमारे साधारण जीवन से आविर्भूत होती है; इसलिए उसका गद्य से संबंध और भी अनिवार्य हो जायगा। यह ऐसा है कि कुछ कहानियाँ पद्य में भी लिखी गई हैं और लिखी जाती हैं परन्तु

१—अंग्रेजी साहित्य में १७ वीं शती के लेखकों ने तो १६ खंडों में कुछ उपन्यासों की समाप्ति की। १८ वीं शती में प्रायः चार-चार खंडों तक उनका विस्तार रहा और १९ वीं शती तक यही खंडविस्तार प्रचलित रहा, परन्तु २० वीं शती में इस विस्तार यद्यपि कम तो किया गया परन्तु पृष्ठ-संख्या काफी बढ़ी-चढ़ी रही। हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में देवकी-नंदन खत्री के जासूसी उपन्यासों में कुछ के चार और कुछ के २० से ऊपर तक खंड प्रस्तुत हैं। और जब से उपन्यास-साहित्य का सृजन आरम्भ हुआ तब से खंडों की संख्या तो कम होती गई किंतु पृष्ठों की संख्या बढ़ती ही गई। विस्तार की दृष्टि से पिछली शतियों के तीन-चार लेखकों के उपन्यास एक ही खंड में चार सौ से लेकर छः सौ पृष्ठों में लिखे गये हैं।

ऐसी कहानियाँ हमारे साधारण जीवन से संबंधित न होकर असाधारण, रोमांचक अथवा आश्चर्य-रूप में वर्णित हो जाती हैं। यही कारण है कि हमारे राष्ट्रीय वीरों के कार्य अथवा उनकी असाधारण एवं आदर्श जीवन-गाथा पद्य में ही मुखरित होती है, गद्य में नहीं। इस सिद्धान्त के विरोध में कुछ पाठक ऐसे उपन्यासों का उल्लेख कर सकते हैं जिनमें असाधारण घटनाएँ अथवा कुछ व्यक्तियों के असाधारण जीवन का वर्णन गद्य के ही माध्यम से ही हुआ हो। ऐसे उपन्यासों को पढ़ते ही हम किसी रोमांचक जगत् के प्राणी हो जाते हैं। परन्तु गंभीर रूप में देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि उपन्यासकार का उद्देश्य असाधारण को साधारण रूप देना है और उसकी इच्छा सतत यह रहती है कि हम उस असाधारण जीवन-चित्र को अपने जीवन का ही चित्र समझें। ऐसे उपन्यासों के नायक साधारण व्यक्ति ही होते हैं। इनकी कृतियाँ भी साधारण ही होती हैं और इस रोमांचक अथवा दिव्य जगत् में पहुँचकर भी वे जीवन की साधारणता नहीं छोड़ते।

जैसा हम स्पष्ट कर चुके हैं कि कोई अर्थ-विशेष अथवा कार्य-व्यवस्था-विशेष ही उपन्यास का आधार रहेगी; परन्तु हमें यह भी जानना हितकर होगा कि कार्यों की ऐसी कौन-सी विशेषता है जो विस्तृत कथन उपन्यासकार के लिए उपयोगी होगी। सच तो वह है कि हम जो भी कार्य करते हैं वह एक होते हुए भी अनेक कार्यों का समन्वित रूप रहता है। उदाहरण के लिए जब हम यह कहते हैं कि “राम वन को चले” तो यह कार्य एकाकी न होकर अनेक कार्यों का सामूहिक रूप होगा। चलते समय युवराज के राजसी वस्त्र उतारना, वल्कल धारण करना, खड़ाऊँ पहिनना, गुरुजनों के प्रति उन्मुख हो नतशिर होना और राजमहल से निकलकर संपूर्ण सड़क की ओर एक दृष्टि फेंकना, सभी उनके वन-गमन कार्य के सामूहिक रूप रहेंगे। नाटककार केवल उनके चलने के कार्य को अपनाएगा; उपन्यासकार चलने की तैयारी से लेकर चलने तक के सभी कार्यों पर अपनी दृष्टि रखेगा। नाटककार के पास न तो इतनी नियंत्रण है और न विस्तृत कथन की अपेक्षा है। समय की कमी के कारण वह कार्य के उत्कर्ष पर भी अपनी दृष्टि रखता है और शीघ्रातिशीघ्र उस उत्कर्ष को प्रस्तुत करने में लग जाता है; क्योंकि इसी में उसकी कला है और यही उसकी श्रेष्ठता का निर्णायक भी होगा। इसके विपरीत उपन्यासकार के पास न तो समय की कमी है और न विस्तृत कथन में संकोच। वह मनोनुकूल

विस्तारपूर्वक, अबाध गति से अपना वर्णन प्रस्तुत कर सकता है। उदाहरण के लिए, नाटककार दर्शकों को केवल एक संवाद में अथवा केवल संकेत रूप में किसी पात्र विशेष के जीवनांत की सूचना देगा, चाहे इस जीवनांत की तैयारी वर्षों पहले से की और चाहे इसका प्रभाव परिस्थितियों पर आगे वर्षों तक बना रहे; नाटककार की दृष्टि केवल जीवनांत की सूचना अथवा संकेत पर थी क्योंकि यही उसका उत्कर्ष रूप था। परंतु उपन्यासकार पात्र की संपूर्ण रूग्णावस्था, चिकित्सा-व्यवस्था, प्रतिदिन मृत्यु का सामीप्य, उपस्थित संबंधियों की भाव-भंगिमा इत्यादि सबका वर्णन अत्यंत व्यापक और विशद रूप में करने के लिए स्वतंत्र रहेगा। युद्ध-क्षेत्र का दृश्य प्रस्तुत करने के लिए नाटककार केवल नगाड़े पर चोटकर के और एकत्र होते हुए सैनिकों की भाग-दौड़ का संकेत दे आगे चल पड़ेगा, परंतु उपन्यासकार ऐसा वर्णन अनेक अध्यायों में समाप्त करने को स्वतंत्र रहेगा।

यद्यपि हम यह कह चुके हैं कि उपन्यास बहुत कुछ अंशों में कहानी ही रहेगा, परंतु हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि कहानी उपन्यास नहीं। साहित्य-कारों ने कहानी का एक अलग वर्ग ही बना दिया है जो कहानी और उपन्यास से पारिवारिक समानता रखते हुए भी उससे अलग उपन्यास रहेगा। हमें ऐसा प्रतीत होगा कि दोनों ही में एक ही प्रकार के व्यक्तियों और घटनाओं से हम परिचित हो रहे हैं परंतु ऐसी समानता केवल बाह्य रूप में ही दिखलाई देगी। जैसा कि हम पिछले पृष्ठों में स्पष्ट कर चुके हैं कि एक कार्य विशेष जिसे हम देखना चाहते हैं अनेक सामूहिक कार्यों का समान ही रूप रहता है, इसी प्रकार कहानी केवल एक कार्य को ही अपना आधार बनाती है परन्तु उपन्यास अनेक कार्यों, अनेक अनुभवों, अनेक विचारों और अनेक प्रेरणाओं का समन्वित रूप हमारे सम्मुख प्रस्तुत करेगा। कहानीकार केवल एक कार्य को उत्कर्ष पर लाएगा, उसकी दुनियाँ बहुत छोटी होगी और उसे केवल एक ही अनुभव स्पष्ट करना होगा। वह ऐसी कथा-वस्तु चुनेगा जो स्वतः आकर्षक होगी और स्वतः उत्कर्ष पर आ सकेगी। उदाहरण के लिए जासूसी कहानियाँ लिखने वाले कहानीकार केवल एक ही घटना और एक ही अनुभव को उत्कर्ष पर लाकर हमारे संशय की प्रगति तथा उनका पालन करते हैं। कहानीकार में, नाट्यकला सूक्ष्म रूप में प्रस्तुत रहती है और उपन्यासकार की रचना में महा-काव्य गद्यरूप में प्रस्तुत रहता है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर यदि हम उपन्यास की परिभाषा बनाना चाहें तो हम यह सहज ही कहेंगे कि उपन्यासकार व्यक्ति अथवा समाज के साधारणतः विस्तृत जीवन-व्यवसाय का समन्वित रूप गद्य यथार्थ चित्रण के माध्यम से प्रस्तुत करता है। उपन्यास हमारे यथार्थ जीवन का व्यापक प्रतिबिम्ब है। अब प्रश्न यह उठता है कि किसी उपन्यास की समता अथवा उपन्यास-कला की श्रेष्ठता का माप क्या होगा? उनके पास ऐसी कौन-सी कसौटी होनी चाहिए, जिसके साथ उपन्यास की श्रेष्ठता और उपन्यासकार की कलापूर्ण परख कर सकें। इसका उत्तर सरल है क्योंकि जब हम यह निश्चित कर चुके कि उपन्यास हमारे जीवन का व्यापक यथार्थ और समन्वित रूप प्रस्तुत करता है तो उसकी श्रेष्ठता का निर्णय भी करेगा। जो उपन्यासकार जितना ही हमारे यथार्थ जगत् के पास आएगा, जो जितना यथार्थ जीवन का परिचय देगा और जो जितना हमारे जीवन के दैनिक जीवन का परिचय देगा और इन अनुभवों से आपके स्तरों को सजीव बनाना चाहेगा, उतना ही उन्हीं से जब हम उपन्यास के पात्रों में अपना जीवन-चित्र, पात्रों के अनुभव में अपना निजी अनुभव और प्रस्तुत घटनाओं में उनकी संभाव्यता का चित्रण पाएँगे तो यही उपन्यासकार की कला की श्रेष्ठता के निर्णायक रहेंगे। जो औपन्यासिक कला जितनी ही यथार्थ जीवन के व्यापक सान्निध्य का आभास देगी उतनी ही श्रेष्ठ होगी।

उपन्यास के अध्ययन के संबंध में एक प्रश्न साधारणतः यह पूछा जाता है कि साहित्यक्षेत्र में उपन्यास का जन्म इतने विलम्ब से क्योंकर हुआ। काव्य, नाटक और कहानी जब अपने उत्कर्ष पर पहुँच चुकी तब कहीं जाकर उपन्यास लिखे गए। काव्य का इतिहासकार हमें सुदूर प्राचीन युग की ओर ले जाएगा जहाँ मानवीय तथा धार्मिक अनुभूति के आवरण में उसका बीज पनपता हुआ दिखलाई देगा; नाटक का इतिहास एक बार हमें जहाँ वैदिक युग की ओर ले जाएगा, दूसरी ओर भक्ति के युग की ओर संकेत करेगा; परंतु उपन्यास, ऐसा सहज होता है, जैसे कल की चीज हो। इस रहस्य को जानने के लिए पिछले युगों की कुछ विशेषताओं पर ध्यान रखना होगा। काव्य का प्रकाश तभी हुआ जब प्रकृति के अनबूझ रहस्यों को देखकर आदि मानव ने, उन शक्तियों के सम्मुख घुटने टेके और उनका यशोगान करते हुए उन्हें अपना अभिभावक माना। उसी प्रकार नाट्यकला का प्रथम दर्शन भी हमें तभी हुआ होगा जब प्राकृतिक शक्तियों द्वारा वरदान रूप से

आदिमानव अपनी क्षुधातृप्ति के उपरान्त संतुष्ट होकर नृत्य कर उठा होगा। और कहानी का भी जन्म हमें उस आदि बालक के अनुरोध में निहित दिखलाई देगा जब उसने अपनी माता से कहानी कहने का आग्रह किया होगा। ऐसे ही रूप में, अंग्रेजी साहित्य में, उपन्यास का जन्म अठारहवीं शती के मध्य काल से ही माना गया है और हिंदी-साहित्य में उसका सर्वप्रथम दर्शन हमें १९ वीं शती के उत्तरार्ध में होता है। प्राचीन अथवा मध्य युग में पौराणिक वीरों तथा देवी-देवताओं से सम्बन्धित जो कहानियाँ लिखी गईं उनमें हम कहानी के तत्त्व तो पाते हैं, परन्तु उपन्यास के नहीं। इसका पहला कारण तो यह है कि समस्त कहानियाँ पद्य-रूप में लिखी गईं और जो भी आख्यान पद्य-रूप में वर्णित हुए उनमें असाधारणता, वैचित्र्य और रोमांचक तत्त्व अधिक थे और यही उनकी लोकप्रियता का कारण भी था। इसके अतिरिक्त यथार्थ जीवन का कहानीकार रोमांचक कहानीकार की अपेक्षा बहुत ही दैय-सा समझा जाता था। फलतः साधारण जीवन के अनुभवों की साधारण अभिव्यक्ति की न तो कोई सामाजिक महत्ता थी और न इसका कोई साहित्यिक मूल्य। तीसरे जो कुछ भी साहित्य-रूप में लिखा जाता था, उसके दो लक्ष्य होते थे। पहला आनन्द-प्रदान और दूसरा रोमांचक अनुभूति; इन दोनों लक्ष्यों की पूर्ति उपन्यास सहज रूप में नहीं कर सकता था। इसलिए इसका जन्म भी बहुत विलम्ब से हुआ। प्राचीन युग धर्मानुराग से प्रेरित था। मध्ययुग रोमांचक प्रेम तथा रोमांचकारी श्रद्धा द्वारा परिचालित था; फलतः उपन्यासकार को ऐसे युग में जन्म लेने का अवसर ही न मिला। इसके साथ-साथ हमें यह भी ध्यान में रखना होगा कि प्राचीन युग के समाज की आँखें एक अदृश्य आध्यात्मिक तथा दैवी लोक की ओर लगी थीं और मध्ययुगीन समाज की दृष्टि भी साधारण जीवन के साथ-साथ अनुभवों की ओर न रहकर वीरों और वीरगीत के अनुकूल आदर्शवादी महान् आत्माओं की ओर एकाग्र थीं। भौतिक जीवन का न तो कोई मूल्य था और न आकर्षण। भौतिक जीवन यापन करनेवाला व्यक्ति भी अपना जीवन-लक्ष्य किसी अपर लोक में ही रखता था, जिसके फलस्वरूप यथार्थ जीवन से आविर्भूत उपन्यास-कला उपयुक्त समय का प्रतीक्षा करती रही। समय ने प्राचीन युग की अपूर्व आध्यात्मिकता और मध्ययुग की व्यापक और आकर्षक रोमांचकता दोनों को धीरे-धीरे भुला दिया। देवी-देवता वीर और वीरांगनाएँ बनीं, और काल के आवर्त में पड़कर वे साधारण जीवन-यात्री मात्र रह गए। आध्यात्मिक और रोमांचक जीवन की मर्यादा भुला दी गई और जब वैज्ञानिक युग ने जीवन का साधारणीकरण किया तो मनुष्य और उसकी जीवन-व्यवस्था

की ओर साहित्यकार आकृष्ट हुए और यही आकर्षण उपन्यास-रचना का मूल कारण भी सिद्ध हुआ।

साहित्य-क्षेत्र में इस महान् पूर्णरूपेण परिवर्तन के आने के पहले अनेक संक्रान्ति-काल आए। देवी-देवताओं को मानव-रूप में परिवर्तित करना सरल कार्य न था और इस महायज्ञ में यदि शक्तियों का समय व्यतीत हुआ तो आश्चर्य ही क्या? देव-लोक को यथार्थ भौतिक जगत् में रूपान्तरित होने में समय लगना नितान्त स्वाभाविक था। जीवनयापन की कठिनाइयों ज्यों-ज्यों बढ़ती गई होंगी, त्यों-त्यों दैवी जगत् की उदासीनता का कष्ट अनुभव मानव को हुआ होगा और जैसे-जैसे मानव की अभिलाषा, आकांक्षा और प्रतिष्ठा प्राप्ति की साधना को देववर्ग ने उपेक्षित किया होगा, वैसे-ही-वैसे मनुष्य की आदत एवं श्रद्धा पर चोट पहुँची होगी और शनैः-शनैः संसारी मनुष्य ने परमेश्वर से सहायता की आशा न कर समाज के इन प्रतिभापूर्ण, प्रतिष्ठित तथा उच्च पदाधिकारियों पर अपनी दृष्टि एकाग्र की होगी, जिनसे उसे सहायता मिली होगी और दैवी श्रद्धा को नवीन रूप देकर कलाकारों ने राजाओं, महात्माओं, वीरों तथा वीरांगनाओं के पद पर प्रतिष्ठित कर इनका वर्णन किया होगा। इन्हीं राजाओं, महाराजाओं और वीरों ने, ऐसा ज्ञात होगा कि, देवी-देवताओं की विमुखता से लाभ उठाकर अपने को उनके दैवी स्थान पर आसीन कर लिया और वे समस्त समाज द्वारा पूज्य समझे जाने लगे और सहज ही उपन्यास के साधारण आधार निश्चित होने लगे। कदाचित् यह विचार मान्य होगा कि ज्यों-ज्यों जीवन की असाधारणता आदर्शवादिता तथा कल्पनात्मकता साधारणता, यथार्थता और पार्थिवता में रूपान्तरित होती गई, त्यों-त्यों उपन्यास का बीज साहित्य-क्षेत्र में जड़ पकड़ता गया।

इस बीज को पनपने के लिए यह आवश्यक था कि साहित्यकार कुछ ऐसे उपकरण प्रस्तुत कर लेता जो अनेक रूपों में उपयोगी होते। और यह उपकरण समय की मॉँग ने उपन्यासकार के सम्मुख अत्यन्त सरलता से प्रस्तुत कर दिए।

उपन्यास-कला का पहला महत्त्वपूर्ण उपकरण कलाकार की अनुवीक्षण शक्ति है और वही शक्ति उसकी कला का मूल स्रोत रहेगी। सफल उपन्यासकार

सहज रूप में ऐसा द्रष्टा बन जाता है कि वह समस्त

उपन्यास-कला के उप- मानव-जीवन की साधारण-से-साधारण घटनाओं तथा

करण साधारण-से-साधारण विचारों को हस्तगत कर

लेता है। उसकी व्यापक दृष्टि से कुछ छिपा नहीं

रहता और ऐसे अनुभव अथवा विचार जिनकी ओर हम कभी आँख उठाकर

भी नहीं देखते उसकी परिधि में आ जाता है। साधारण जीवन से वह इतना परिचित हो जाता है कि वही जीवन उसे महत्त्वपूर्ण ज्ञान पड़ने लगता है। इसी जीवन से वह ऐसे रूप ढूँढ़ निकालता है जिनकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते थे और उसी जीवन से सम्बन्धित व्यक्तियों को ऐसे दृष्टिकोण से देखता है जो साधारण होते हुए भी असाधारण ज्ञात होने लगते हैं। एक पश्चिमी आलोचक का कथन है कि यथार्थ जीवन कल्पनात्मक जीवन से कहीं अधिक आश्चर्यपूर्ण होता है। इसी सिद्धान्त को पूर्णतः अपनाकर उपन्यासकार अपनी कला के समस्त उपकरण संगृहीत कर लेता है।

इस उपरोक्त सिद्धान्त का आरोप यदि हम संसार के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपन्यासों पर करें तो हमें यह सरलतापूर्वक ज्ञात हो जाएगा कि वास्तव में इसी सिद्धान्त ने इस कला को महती शक्ति प्रदान की है। यद्यपि इस सिद्धान्त का आरोप हम साहित्य के अन्य वर्गों पर भी कर सकते हैं तथापि उपन्यास-क्षेत्र में इसकी सत्यता अक्षरशः प्रमाणित होगी। साधारण जीवन के साधारण विचार, विचारों के आदान-प्रदान, आदान-प्रदान से सम्बन्धित द्वन्द्व तथा इन द्वन्द्वों में निहित संघर्ष का लेखा, जब उपन्यासकार प्रस्तुत करता है तो हमें अपने पर स्वयं आश्चर्य होने लगता है। और उपन्यासकार इसी रूप में जितना हमें आश्चर्यित करेगा, उतना ही वह हमारे समीप आएगा और उसका लोकप्रियता बढ़ेगी।

ऐतिहासिक रूप से यदि देखा जाय तो भी यही आलोचनात्मक तत्त्व पिछले युगों से लेकर आज तक के उपन्यासकारों में प्रदर्शित मिलेगा। अंग्रेजी-साहित्य के महान् साहित्यकार शेक्सपियर के युग तक ऐसा ज्ञात होगा कि साहित्यकारों की अनुवीक्षण-शक्ति धीरे-धीरे विकसित होनी प्रारम्भ हुई और साहित्यकारों ने वैज्ञानिक दृष्टि को भी अपनाना प्रारम्भ किया। रचनाकारों ने मनुष्य के भीतर तथा बाहर जगत् का अनुवीक्षण या निरीक्षण अध्यवसाय के साथ किया और साहित्य में इस तत्त्व की मर्यादा स्थापित की। सत्रहवीं शती के साहित्यकार ने भी मनुष्य के आध्यात्मिक और मानसिक जगत् का विशेष अध्ययन तथा अनुवीक्षण किया और अठारहवीं शती के आरम्भ होते-होते साधारण व्यक्ति महत्त्वपूर्ण हो गया। इस युग के लेखकों ने साधारणतया मानसिक सुधार का बीड़ा उठाया और साधारण जीवन से सम्बन्धित मानसिक दोषों तथा सामाजिक बुराइयों के संशोधन का स्तुत्य प्रयास किया। जो साहित्य उस काल में लिखा गया, उसमें हमें यथार्थपूर्ण जीवन के अत्यन्त आकर्षक चित्र मिलेंगे। इसी साहित्यिक विकास को उपन्यासों ने भी अपनाया और उन्नीसवीं तथा बीसवीं सदी के उपन्यासों में यथार्थ चित्रण का महत्त्व

इतना बढ़ गया कि शायद ही कोई उपन्यासकार ऐसा मिलेगा जो यथार्थ तत्त्व की ओर से विमुख रहा हो। विकास की यही कहानी हमें हिन्दी-साहित्य में भी प्रदर्शित मिलेगी। देवकीनन्दन खत्री के कलात्मक घटना-चक्रों से परिपूर्ण उपन्यासों की परम्परा से लेकर आज तक के सभी सफल उपन्यासकारों में विकास का यही क्रम दिखलाई देगा। आश्चर्यपूर्ण कल्पना-जगत् से हट कर प्रेमचन्द ने भारतीय ग्रामीण तथा नागरिक जीवन की संघर्ष-सम्बन्धी घटनाओं का आधार लेकर समाज से अनेक सामाजिक चित्र प्रस्तुत किए और साधारण जीवन को ही अपनी कला का रत्न-स्रोत बनाया। यथार्थ जीवन की भावना का विकास जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, उग्र इत्यादि की रचनाओं में स्पष्टतः मिलेगा और समाजवाद से प्रेरित हिन्दी-लेखकों में साधारण जीवन के संघर्षों से सम्बन्धित ही चित्र मिलेंगे, जहाँ समाज ही नहीं, बल्कि व्यक्ति और उसके मनस्तत्त्व के अनेक स्तरों का यथार्थ चित्रण मिलेगा। इसमें सन्देह नहीं कि इस साधारणीकरण की अधिकता प्रायः संसार के सभी उपन्यास-साहित्य में मिलेगी। हाँ, लेखन-शैली में परिवर्तन अवश्य रहेगा। परन्तु उनके आधार एक होंगे। कहीं पर लेखक केवल विशुद्ध रोमांचक जीवन का चित्र सामने रखेंगे, कहीं सामाजिक तथा नैतिक सुधार का लक्ष्य अपनाएँगे और कहीं साधारण वर्ग-संघर्ष प्रस्तुत करते हुए व्यक्ति और समाज तथा उसमें अन्तर्हित जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करेंगे। इसमें सन्देह नहीं कि वही जीवन-तरीका, वही विश्लेषण, वही संघर्ष हमें रुचिकर होगा जिसका अनुभव हम मन-ही-मन करते चलेंगे। जिस प्रकार एक केन्द्र पर बैठकर मकड़ी चारों ओर एक अत्यन्त आकर्षक वितान तन देती है और वितान के प्रत्येक तागे एक-दूसरे से समन्वित होकर एक अत्यन्त आकर्षक तथा सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था प्रदर्शित करते हैं, उसी प्रकार उपन्यासकार साधारण जीवन के एक केन्द्र से उठता हुआ साधारण घटनाओं तथा साधारण व्यक्तियों के अनुभवों की सामंजस्य-पूर्ण जीवन-व्यवस्था प्रस्तुत करेगा। यथार्थ चित्रण उपन्यास-कला का मूल स्रोत रहेगा।

यथार्थ जीवन के चित्रण का एक दूसरा अपूर्व कारण यह हुआ कि पाठक-वर्ग की रुचि समकालीन जीवन की ओर सहज ही आकृष्ट हो गई। यों भी जो

कुछ भी हम आँखों से देखते हैं, अपने कानों से सुनते हैं
समकालीन और अपने हृदय से अनुभव करते हैं, हमें अतीव प्रिय तथा
जीवन-चित्रण रुचिकर रहता है। फलतः उद्यो-ज्यो उपन्यास यथार्थ-चित्रण
 करने लगा, हमारा समकालीन जीवन—उसका अक्षयकोष

होने के नाते—उसमें व्यक्त तथा वर्णित होता रहा। इस समकालीन जीवन का आकर्षण इतना बढ़ा कि समय पाकर उपन्यासकारों ने केवल इसी जीवन को अपनी रचना का मूल आधार मान लिया। समकालीन जीवन हमारी दैनिक विशेषताओं से भरा-पुरा है। और वह हमारी इच्छा और आकांक्षा तथा ईर्ष्या तथा द्वेष, गर्व तथा पाखण्ड, सहृदयता तथा क्रूरता इत्यादि के लिए क्रीड़ा-स्थल है। उसमें हमारा सम्पूर्ण जीवन व्यापक रूप से प्रतियोगिता का है और उपन्यासकार यह जीवन अपने उपन्यास में चित्रित करने में पूर्ण कौशल से काम लेते हैं। यही कारण है कि यथार्थ-प्रधान उपन्यास पाठक-वर्ग द्वारा विशेष आदृत हुए।

समकालीन जीवन की नागरिक विशेषताएँ ही नहीं, वरन् बाह्य व्यवस्थाएँ भी हमें उतनी ही आकर्षक जान पड़ेंगी। उनमें हम अपने मानसिक जीवन का जीता-जागता चित्र नहीं देखेंगे, वरन् उन सभी घटनाओं, व्यवस्थाओं, कार्यों तथा उपकरणों को देखेंगे, जो हमारी मानसिक विषमताओं को प्रेरित करते रहते हैं। हमारे बाह्य कार्य-व्यापार तथा हमारा मानसिक कार्य-व्यवहार, लोगों के सहयोग अथवा प्रतिरोध द्वारा उपन्यासकार जो सामग्री पाएगा, उसके प्रकाशन द्वारा हमारा यथार्थ और भी लचीला और प्राणमय हो जाएगा। जिस प्रकार हम दर्पण में अपना मुख देखकर प्रसन्न तथा उत्फुल्ल होते हैं, उसी प्रकार उपन्यास के दर्पण में हमारा यथार्थ जीवन प्रतिबिम्बित होकर हमें साहित्यिक प्रफुल्लता और आनन्द प्रदान करेगा।

समकालीन जीवन के प्रति आसक्ति का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण आज की राजनीति है। इस राजनीति के फल-स्वरूप जो सामाजिक दृष्टिकोण आविर्भूत होता है वह उपन्यासकार को बहुत व्यापक रूप में प्रभावित करता है। आज की राजनीति के दो प्रमुख रूप दृष्टिगत होंगे : प्रजातन्त्रीय तथा समाजवादी। प्रजातन्त्र के प्रसार ने समाज के साधारण-से-साधारण व्यक्ति को समानता का पाठ पढ़ाया, उसे शिक्षित किया और उसे अपना मूल्य समझने का साधन प्रदान किया। प्रजातन्त्र ने मतदान की जो विधि चलाई उससे साधारण व्यक्ति की निजी रुचि और उसके व्यक्तित्व का महत्त्व बढ़ गया और जैसे-जैसे प्रजातन्त्रीय भावना प्रसार पाती गई वैसे-ही-वैसे साधारण व्यक्ति का जीवन मूल्यवान् होता गया और चूँकि व्यक्ति साधारण था और साधारण जीवन से उसका सम्पर्क था, उसे उपन्यासकार ने सहर्ष अपनाया।

सिद्धान्त रूप में जब यह सिद्ध हो गया कि उपन्यासकार के लिए साधारण

जीवन का चित्रण फलप्रद होगा और पाठकवर्ग को रुचिकर लगेगा तब उपन्यास-कारों के सम्मुख कुछ नई समस्याएँ उसके लक्ष्य के सम्बन्ध में प्रचारात्मक आ खड़ी हुईं। यह तो उन्होंने स्वीकार कर ही लिया था

दृष्टिकोण कि वे साधारण जीवन का यथार्थ-प्रतिबिम्ब अपनी रचनाओं में प्रस्तुत करेंगे; परन्तु उसका लक्ष्य क्या होना चाहिए, इस विषय में कलाकारों में मतभेद प्रस्तुत होने लगा। ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर पहले-पहल सभी साहित्यों का लक्ष्य मानव-समाज के सुधार का था और सुधार की भावना से प्रेरित होकर अनेक साहित्यकारों ने अपनी रचनाएँ कीं। उसके पश्चात् सुधार की भावना का दर्शन हुआ और कुछ साहित्यकारों ने यह सिद्धान्त स्थिर किया कि साहित्य का लक्ष्य प्रमुख रूप में आनन्द-प्राप्ति होना चाहिए। परन्तु इस सिद्धान्त की मान्यता बहुत दिनों तक नहीं रही और इस विषय पर बहुत वाद-विवाद चला कि साहित्य का प्रधान लक्ष्य क्या हो और गौणलक्ष्य क्या रहे? और उन दोनों लक्ष्यों का समन्वय प्रस्तुत करते हुए प्रायः सभी वर्गों ने यह निर्णय किया कि प्रमुख लक्ष्य आनन्द-प्रदान होगा और सुधार को गौण रहना चाहिए। साथ-ही-साथ कुछ लोगों ने साहित्य का एक और भी लक्ष्य स्थिर किया है, जो उपन्यास-रचना से बहुत गहरे रूप में सम्बन्धित है। कुछ आलोचकों का विचार है कि जब उपन्यासकार यथार्थ का चित्रण करे तो उसे साधारण जीवन को विशेष दृष्टिकोण से देखना चाहिए। उसका लक्ष्य केवल यथार्थ को प्रस्तुत कर देना ही न होगा—उसके साथ-ही-साथ उसमें आत्मीयता का, सहृदयता का योग भी होना चाहिए। यदि उपन्यास-कार आत्मीयतापूर्वक सुधारवादी दृष्टिकोण नहीं अपनाता तो वह मानव को अपनी ओर से दे क्या जायगा? सामान्य लोक-जीवन का चित्रण इस युग की प्रमुख विशेषता है, इसके बिना उपन्यास के प्रति साधारण जनता का न तो यथोचित आकर्षण होगा और न उसे उससे कोई लाभ ही पहुँचेगा। काल्पनिक सृष्टि द्वारा आनन्द-प्रदान के लक्ष्य को जनता-प्रबुद्ध जनता-अधिक दिनों तक स्वीकार नहीं करेगी। अतः साधारण जीवन की अच्छाई और बुराई को ज्यों-की-त्यों ग्रहण करते हुए बुराइयों एवं रूढ़ियों के प्रति सुधारवादी दृष्टिकोण अपनाना मानवता के लिए विशेष हितकर होगा। साधारण जीवन के केवल धिनौने पक्ष का प्रदर्शन समाज में और अधिक कुरूपता की सृष्टि करेगा। सुधारवादी दृष्टिकोण जनता में जागृति और नवोन्मेष लायेगा। यथार्थ के भीतर अन्तर्हित मानवता को बाहर खोज लाना और उसे आदर्श-रूप में प्रतिष्ठित करना सच्चे उपन्यासकार का कर्तव्य है। किसी वाद के घेरे में बँध जाना

साहित्य के शाश्वत लक्ष्य की पूर्ति नहीं कर सकता। वाद-विशेष के प्रचारक उपन्यासकारों के विषय में हम तो यही कहेंगे कि किसी वाद के प्रचारक उपन्याससे संसार की प्रगति अथवा उसका सम्यक सुधार हो अथवा न हो, वे कम-से-कम उपन्यास-कला की न तो प्रगति कर सकेंगे और न उसका विकास। इसके विपरीत अनेक अधुनिक आलोचक यह प्रमाणित करने की चेष्टा करेंगे कि समस्त साहित्य का उद्देश्य और प्रयोग मानवहित के लिए होना चाहिए और जो कला-वृत्ति उसमें सहयोग नहीं देती, वह निरर्थक और निष्फल होगी।

उपन्यास-रचना-क्षेत्र में इन दो विरोधी शैलियों के होते हुए भी यह सिद्धान्त सर्वमान्य रहा है कि उपन्यास का मूल शिलाधार यथार्थ जीवन का चित्रण ही रहेगा। परन्तु उस सिद्धान्त को बार-बार दुहराने कल्पना तथा की आवश्यकता यह है कि मानव-स्वभाव और उसकी प्रवृत्ति यथार्थ का द्वन्द्व साधारणतः उस तत्त्व को भुलाने की चेष्टा बहुत जल्द करती है, जो उपन्यासकार को पथ-भ्रष्ट कर देती है। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति में यथार्थ और कल्पना दोनों के प्रति समान आकर्षण रहता है। यथार्थ और कल्पना परस्पर विरोधी होते हुए भी मनुष्य को समान रूप से आकृष्ट करते आए हैं और जब-जब यथार्थ के आग्रह को छोड़कर उपन्यासकार कल्पना के आग्रह को मानकर जीवन का निरीक्षण करने लगा, तब-तब उसके प्रति ऐतिहासिक रूप में प्रतिक्रिया आरम्भ हुई है। जब-जब वास्तविकता को हटाने के लिए कलाकार प्रस्तुत हुआ था, प्रतिक्रिया जोर पकड़ती गई, तब-तब यथार्थ जीवन ने अपना एकच्छत्र अधिकार उपन्यासकारों से स्थापित कर लिया। कल्पना तथा यथार्थ-प्रेम ये दोनों प्रेरणाएँ उपन्यासकार को आकृष्ट करती रही हैं और उसका मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि उपन्यासकार कभी भी अपने से सन्तुष्ट नहीं रहता। यथार्थ जीवन की परिधि को यह सतत तोड़नेवाला है। उस परिधि के बाहर कुछ देर घूमकर वह पुनः यथार्थ की ओर उसी प्रकार चल पड़ता है जिस प्रकार जहाज का पंछी आकाश में घूम-फिर कर पुनः जहाज पर आ बैठता है। यों भी हमारा समस्त जीवन यथार्थ और कल्पना का विचित्र समन्वय-रूप है। हम प्रतिदिन के जीवन के प्रति वैसे ही आकृष्ट रहते हैं, जैसे ध्रुवतारा उत्तर की ओर आकृष्ट रहता है; दैनिक जीवन के सुख-दुःख हम सहज ही अपने मन में बसाए फिरते हैं और उसी में तल्लीन रहते हैं, परन्तु रह-रह कर हमारी कल्पना यथार्थ की ओर से हमें विमुख करने का प्रयत्न किया करती है और हमें अपने

सपने सजाने का आमन्त्रण दिया करती है। परन्तु यथार्थ उन सपनों को भंग कर हमें अपनी ओर खींचता चलता है। इसी मानसिक द्वन्द्व ने उपन्यास की ऐतिहासिक रूप-रेखा का इतिहास दिया है और इसी द्वन्द्व पर उसके दो मूलवर्गों का इतिहास आधारित है।

ऐतिहासिक रूप में मानव की कल्पना-प्रियता ने अनेक युगों तक उपन्यास के वास्तविक रूप का विकास होने नहीं दिया और जब-जब किसी प्रतिभाशाली लेखक ने उसे विकसित करने की चेष्टा की तब-तब अन्य लेखकों ने प्रतिक्रिया आरम्भ की और पुनः उसे कल्पना-क्षेत्र में लाकर आसीन कर दिया। सत्रहवीं शती के कुछ अंग्रेजी उपन्यासकारों ने उपन्यास को बार-बार स्वप्न एवं कल्पनात्मक क्षेत्र में लाने का प्रयत्न किया और यथार्थ जीवन से विमुख रहे, जिसके फलस्वरूप उपन्यास का वास्तविक युग करीब सौ वर्ष तक साहित्य-क्षेत्र में जन्म न ले सका। यही परिस्थिति हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में भी दृष्टिगत होती है। देवकीनन्दन खत्री के समय से लेकर आजतक के श्रेष्ठ उपन्यासकारों की रचनाओं का वर्गीकरण हो तो यह प्रमाणित होगा कि जब कल्पनात्मक तथा रोमांचक उपन्यासों की बहुलता हुई तभी प्रतिक्रिया आरम्भ हुई और यथार्थवादी उपन्यासों की रचनाएँ जोर-शोर से होने लगीं। यद्यपि आज का युग यथार्थवादी है और यथार्थवादी उपन्यासों की कमी नहीं, फिर भी अनेक सामाजिक एवं आर्थिक जीवन की जटिलताओं के कारण रोमांचक एवं जासूसी उपन्यासों का आकर्षण कम नहीं है। यथार्थ जीवन की कठिनाइयों, दुर्व्यवस्थाओं तथा जटिलताओं में पड़कर आज का प्राणी हताश और निरुपाय होकर जब मानसिक रूप में उनसे छुटकारा पाना चाहता है तब वह सहज ही जीवन के कलात्मक चित्रों की ओर आकर्षित होने लगता है और यही आधुनिक युग में रोमांचक उपन्यासों की लोकप्रियता का सबल प्रमाण रहेगा। एक तो वैसे ही मनुष्य यथार्थ जीवन की कठिनाइयों झेलता है और जब यही चित्र उसे साहित्य में भी दिखाई देता है तब वह सहज ही रोमांचक जगत् की ओर चल पड़ता है। परन्तु रोमांचक जगत् भी उसे थोड़े ही समय के लिए बहला सकता है और कल्पना-क्षेत्र में कुछ ही दिनों विचरण करने के पश्चात् डोर में बंधी हुई पतंग के समान वह पुनः यथार्थ जीवन के किनारे आ लगता है। और जैसा हम पहले संकेत कर चुके हैं, यथार्थ, कल्पना से कहीं अधिक, कलाकार की कला द्वारा आकर्षक बनाया जा सकता है।

कुछ ऐतिहासिक उपन्यासों की लोकप्रियता का भी मूल कारण यही रहेगा।

ऐतिहासिक जीवन यथार्थ जीवन का एक विशाल चित्र प्रस्तुत करता है और यथार्थ-प्रेमी पाठक उसके द्वारा अपना परितोष पाता है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय तथा आदर्शवादी भावनाएँ, जो हमें सहज ही वशीभूत करती रहती हैं इन उपन्यासों में प्रस्तुत रहती हैं, जो हमारे आकर्षण का कारण बन जाती हैं। ऐतिहासिक उपन्यासकारों ने अपनी कल्पना-प्रियता से प्रेरित होकर कुछ काल्पनिक पात्रों का भी निर्माण कर दिया है, जो केवल कहानी को पूर्ण करने में ही सहयोग नहीं देते, वरन् हमारी कल्पना-प्रियता की भी रक्षा करते रहते हैं। अनेक पूर्वी तथा पश्चिमी उपन्यासकारों^१ ने इन दोनों तत्त्वों के समुचित समन्वय द्वारा स्थायी उपन्यास-साहित्य की रचना की है।

उपरोक्त विवेचन से यह प्रमाणित है कि उपन्यास-साहित्य को हम मूलतः तीन वर्गों में बाँट सकते हैं—कल्पनात्मक, यथार्थवादी तथा समन्वयवादी; और इन तीनों वर्गों का रचनाओं के अनेक उदाहरण हमें वर्गीकरण पूर्वी तथा पश्चिमी साहित्यों में समानरूप से मिलते हैं। उपन्यासकार की कल्पनात्मकता कभी तो उसे परी देश के देवी-देवताओं के लोक में अथवा प्रेत-संसार में ले जाएगी और कभी उसे हमारे साधारण-से-साधारण घरेलू जीवन में ला बैठाएगी और इन्हीं दोनों वर्गों की ओर उपन्यासकार बहुत काल से उन्मुख रहा है और कदाचित् जब तक कि कल्पना और यथार्थ का जीता-जागता प्रतीक बना रहेगा तब तक उपन्यास-क्षेत्र में ये दोनों धाराएँ समानरूप से प्रवाहित होती रहेंगी।

साहित्यकारों तथा पाठकों का प्रायः यह जानने का आग्रह रहता है कि उपन्यासों की लोकप्रियता बढ़ेगी अथवा घटेगी। विशेषतः उपन्यासकार जब उपन्यास लिखने बैठता है तब उसके सम्मुख पहली समस्या उपसंहार : यह उठती है कि कौन-सा विषय चुना जाय जो पाठकों को उपन्यास-लेखन तो प्रिय हो ही और उसे स्वयं भी अपनाने में कठिनाई न की कठिनाइयाँ हों। आधुनिक युग के जटिल एवं विषम वातावरण के कारण यह कठिनाई और भी अधिक बढ़ गई है। रुचि-व्यभिचय के अतिरिक्त (पाठकों की संख्या लाखों तक जाएगी) जो सबसे बड़ी

१. सर बंकिमचंद्र चटर्जी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, वृन्दावनलाल वर्मा, सर वाल्टर स्कॉट, टामस रीड, ओलिवर गोल्डस्मिथ, चार्ल्स डिकन्स, थैकरे।

कठिनाई अनुभव की जाती है वह स्वतः आधुनिक जीवन की विषमताओं द्वारा प्रसृत होगी ।

आधुनिक युग का व्यक्ति, अनेक कारणवश, अत्यन्त जटिल व्यक्तित्व का प्राणी है और वह ऐसे समय में जीवन-यापन कर रहा है जिसमें उसे न तो किसी प्रकार की सुरक्षा प्राप्त है और न अपने जटिल जटिल व्यक्तित्व व्यक्तित्व को सुलझाने के साधन ही सुलभ हैं । व्यक्ति और समाज में जितना गहरा और गूढ़ सम्बन्ध आज के युग में दिखलाई देगा उतना शायद ही किसी और युग में दृष्टिगत हो । इसका कारण यह है कि व्यक्ति और समाज का अन्योन्याश्रित संबंध आजकल इतना बढ़ा है जैसा पहले कभी न था । इसके साथ-साथ वैयक्तिक जीवन जैसे-जैसे जटिल होता गया, वैसे-ही-वैसे सामाजिक जीवन भी जटिल रूप लेता गया; क्योंकि व्यक्तियों द्वारा ही तो समाज बनता है और जटिल व्यक्तित्व जटिल व्यक्तित्व-वाले समाज का सामूहिक रूप में निर्माण करेगा । यही कारण है कि आधुनिक युग में कोई ऐसा साहित्यकार नहीं जो यह कह सके कि मैं जो कुछ भी लिखूँगा, लोकप्रिय होगा और जो भी विषय मैं चुनूँगा सबके लिए रुचिकर होगा ।

इसके अतिरिक्त हमारी अनेक प्राचीन आस्थाएँ भी मिट चुकीं और हमारी श्रद्धा की भावना को समय की गति ने ऐसे थपेड़े दिए कि वह भी एक कोने में मुँह छिपाए पड़ी रहती है । जिन-जिन आदर्शों आस्थाओं का और जिन-जिन सिद्धान्तों पर मनुष्य अपनी बलि देता चला विनाश आया था, वे भी समय की गति के कारण थोथे और निस्सार प्रमाणित होते जाते हैं । प्रेम और त्याग, करुणा और मानव-सहानुभूति, धर्म और भ्रातृत्व, कर्त्तव्य और निष्ठा सभी की आधार-शिलाएँ हिल चुकी हैं और आज का मानव नितान्त निरीह और अरक्षित प्राणी हो गया है । वह साहित्य अब भी पढ़ता है, काव्य को कंठस्थ करता है, कहानी और उपन्यास पढ़ने में समय लगाता है; परन्तु इन किसी पर भी उसकी अडिग आस्था नहीं । सुन्दर और असुन्दर वह अब भी पहिचानता है; सत्य और असत्य की परख वह अब भी करता है और सत्य और सुन्दर के सामंजस्य की अनुभूति भी पाता है; परन्तु दूसरे ही क्षण समय के हाथों पाया हुआ क्रूर अनुभव उसे विचलित कर उसका जीवन नीरस, विद्रूप और लक्ष्य-हीन बना देता है । पिछले युगों का पाठक जब उपन्यास पढ़ता था और अन्त में जब नायक और नायिका का विवाह हो जाता था तो उसे एक स्थायी आनन्द प्राप्त

होता था और उस संयोग को वह जीवन का चरम सत्य समझता था। उसे यह विश्वास रहता था कि कुछ कठिनाइयों और वियोग के क्षणों के पश्चात् संयोग अनिवार्य-सा है और जीवन के प्रति उसकी श्रद्धा बनी रहती थी। इसके विपरीत आज का व्यक्ति अनेक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और वैज्ञानिक प्रगति के कारणों द्वारा किसी भी प्रकार की सुरक्षा का अनुभव नहीं करता। कहानियों और उपन्यासों के पात्र अब उसे कठपुतली के समान ज्ञात होते हैं और समस्त जीवन-प्राङ्गण हिंसा और मृत्यु से परिचालित और नियंत्रित ज्ञात होता है। ऐसी दशा में जब साहित्यकार में कोई आस्था ही नहीं तो उसमें साहित्य-निर्माण के लिए उत्साह ही कितना होगा; और जब उत्साह ही नहीं तो उसके लिए साहित्य का आधार चुनना भी सरल न होगा और वह विशिष्ट आधार की खोज में भटकता रहेगा।

पाठक-वर्ग भी जीवन के प्रति उत्साहहीन हो गया है। यद्यपि ऐसी परिस्थिति बीसवीं शती के आरम्भ में एक बार आई थी तथापि उसने मानवीय जीवन की आस्थाओं को इतनी गहरी चोट न पहुँचाई थी

पाठकों की कि मनुष्य अपने समस्त आदर्श और समस्त मानसिक और **उत्साहहीनता** आध्यात्मिक सिद्धान्तों के प्रति विमुख हो जाता। प्रथम महायुद्ध ने हिंसा का नग्न-नृत्य दिखलाया था; परन्तु फिर भी उस हिंसा के पीछे मानव की आत्मा जीवित थी और मानवता की पुकार मूक न हो पाई थी। युद्ध-क्षेत्र में वैयक्तिक वीरता और शौर्य के प्रदर्शन का क्षेत्र संकुचित न था। इसी कारण मनुष्य में शान्ति और सुरक्षा की भावनाएँ सुप्त न हो पाई थीं। परन्तु द्वितीय महायुद्ध ने ऐसा वातावरण प्रस्तुत किया कि जीवन के प्रति रही-सही सभी आस्थाएँ एक ही प्रहार में मिट गईं और आधुनिक मानव आकाश से बरसते हुए बमों से छिन्न-भिन्न ही नहीं हुआ वरन् अणु बम की उष्णता से उसका रहा-सहा अस्तित्व भी हवा हो गया। बम-युग ने मानवता और मानवीयता की पूर्णाहुति की और मानव को इतना अरक्षित बना दिया कि उसे जीवन के किसी भी सत्य और यथार्थ पर श्रद्धा न रही।

पहले युग के लेखकों को ऐसी कठिनाइयों न थीं। उन्हें ईश्वर, सत्य, धर्म इत्यादि पर गहरी आस्था थी, उनके गीतों में उत्साह और उल्लास था; उनके नाटकों में मानव और मानवता की महत्ता थी और उनके उपन्यास जीवन के रंगरलियों की रंग-स्थली थे। आज की परिस्थिति में उपन्यासकार की कठिनाई और भी बढ़ जाती है। जब वह मानव-जीवन का चित्र प्रस्तुत करने

चलता है तो उसे यह आभास मिलता है कि मानव केवल दुर्भाग्य की कटपुतली है और उसके जीवन की चर्चा और उसकी महत्ता का स्थापन कोरा वितण्डावाद ही होगा। जीवन के अनेक सामाजिक एवं पारिवारिक सम्बन्ध थोथे और झूठे प्रमाणित हो चुके हैं और इन सम्बन्धों के महत्त्व की चर्चा करना भी केवल समय नष्ट करना होगा। जब मानव को कराल काल सब ओर मुँह फैलाए दिखलाई देता है, तब उसके सामने जीवन के किस आदर्श को रखा जाय और जब जीवन का प्रत्येक क्षण इतना अस्थायी और निस्सार है तब उसे साहित्य का आधार क्यों कर बनाया जा सकता है ? आधुनिक जीवन कोई और संदेश न देकर मृत्यु और नरक-निवास का संदेश देता है। जीवन और जगत् को यथार्थरूप में देखने वाले साहित्यकारों की दृष्टि में दरिद्रता, बेकारी, रोग, पीड़ा तथा क्लेश ही जीवन के पर्याय हो गए हैं। शारीरिक रोगों के अतिरिक्त आधुनिक मानव का मानस भी अनेक विकृत रोगों का शिकार है, उसकी प्रत्येक भावना यथार्थ जीवन के थपेड़ों से इतनी घायल हो गई है कि उसे जीवन केवल उन्माद रूप प्रतीत होता है और उसका समस्त जीवन केवल विक्षिप्त क्षणों का एकत्रीकरण मात्र है। ऐसी मानसिक स्थिति में उपन्यासकार क्या लिखे और क्या न लिखे !

जब मनुष्य का शारीरिक एवं मानसिक क्षेत्र इतना विकृत हो चुका है तब आशा केवल आध्यात्मिक क्षेत्र से हो सकती थी; परंतु आधुनिक मानव का आध्यात्मिक क्षेत्र भी इतना आधारहीन हो गया है कि उस पर किसी प्रकार की निष्ठा कठिन ही नहीं, वरन् असम्भव भी होगी। विभिन्न देश के धर्मों के मूल प्रचारकों एवं धर्माध्यक्षों के आह्वानों का, ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कोई मूल्य ही नहीं रह गया। स्वर्ग की कल्पना बालकों के खेल-सी प्रतीत होने लगी और नरक की कल्पना और कहीं न होकर पृथ्वी पर ही होने लगी। ऐसा होना स्वाभाविक ही था। खंडकों में दम तोड़ते हुए सैनिकों ने, गोली से छिदे हुए शरीरों को मृत्युशय्या पर लिटाते हुए चिकित्सकों ने, बम से आहत छिन्न-भिन्न शरीरवाले नवयुवकों तथा नवयुवतियों ने जीवन का जो यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया उसमें आध्यात्मिकता की कोई गुंजाइश न थी और जब कभी कलाकार अपनी लेखनी उठाता है उसके सम्मुख ऐसे ही चित्र साकार होने लगते हैं। जीवन-प्रांगण के महान् हाहाकार के वातावरण में दूर बजती हुई एक-दो शहनाइयों की आवाज सुनता भी कौन, और जब कभी ऐसी आवाजें आई भी, तो वे या तो उस हाहाकार में खो गईं अथवा उन्हें जीवन का नितान्त असत्य रूप समझकर उन्हें भुला दिया गया। आधुनिक पाठक-वर्ग अब जीवन

का मधुमास नहीं देखना चाहता, क्योंकि वह यथार्थ से कहीं परे है; उसे चन्द्रिका के पीछे घोर अमावस्या का भयावह दर्शन होता है। इसी कारण उसे ऐसे गीत रुचिकर होते हैं जिनमें आँसू अधिक और आश्वासन कम हो, उसे ऐसे नाटक रुचिकर होने की संभावना होती है जो दुःख और मृत्यु का चित्र प्रस्तुत करें और उसे ऐसे उपन्यासों के प्रति आकर्षण होता है जिनमें जीवन के दुःखद क्षणों का विस्तृत वर्णन हो। साधारणतः सभी उपन्यास किसी व्यक्ति-विशेष, परिवार-विशेष या समाज-विशेष से सम्बन्धित रहे हैं और रहेंगे और जब कराल काल की व्यापक गति समस्त विश्व को अपना ग्रास बनाए हुए है तब उसमें किसी एक व्यक्ति, परिवार अथवा समाज का मूल्य ही क्या? यदि उसका कोई मूल्य है भी, तो केवल यह कि वह जीवन की निस्सारता का प्रतीक मात्र है। जीवन और मृत्यु के संघर्ष एवं द्वन्द्व में हमें हर ओर मृत्यु की ही विजय-पताका फहरती हुई दिखाई पड़ती है। ऐसे वातावरण में, जहाँ न तो व्यक्ति, न परिवार अथवा समाज की कोई महत्ता है, यदि उपन्यासकार कोई समुचित आधार अथवा विषय-वस्तु चुनने में कठिनता अनुभव करता है अथवा विफल रहता है तो उसे हम किस प्रकार दाँषी ठहराएँगे? आज का व्यक्ति विभ्रम, आशंका और मृत्यु के घटाटोप वातावरण में एकाकी, निस्पृह एवं निरीह रूप में चलता दिखलाई पड़ता है। उसकी प्राणशक्ति मृत्यु की पुकार पर किमी क्षण भी दम तोड़ने पर विवश हो सकती है। ऐसी कठपुतली का कैसे आधार लिया जाय और किस प्रकार उसे अपने उपन्यास का नायक बनाया जाय?

यही नहीं कि आधुनिक जीवन इतना असहाय और अरक्षित हो गया हो। वह बहुत कुछ अंशों में नीरस और अनाकर्षक भी हो गया है। आधुनिक समाज के व्यक्ति में वह पहले जैसा व्यक्तित्व भी नहीं रहा।

नीरस जीवन सामन्तवादी जीवन ने सामाजिक व्यक्तियों के व्यक्तित्व की रक्षा अपूर्व रूप में की और उस काल के जीवन में जितनी रंगीनियाँ प्रस्तुत कीं, आज के जीवन में असम्भव प्रतीत होंगी। इसका कारण यह है कि आधुनिक युग व्यवसायी युग है और आज के कल-कारखानों की दुनियाँ में किसका व्यक्तित्व अपूर्व, विलक्षण अथवा आकर्षक हो सकता है? आज के मशीन युग ने हमारा जीवन भी मशीनवत् बना दिया है। यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि मशीन ने हमारे पारिवारिक और सामाजिक जीवन में अनेक सुखदायक यंत्रों द्वारा अवकाश की वृद्धि की है और हमें व्यापक रूप में सुखी बनाने का प्रयत्न किया है, परन्तु इस सुख के आवरण में हमने अपने व्यक्तित्व के

आकर्षण की बलि दे दी है। और जब उपन्यासकार केवल आकर्षक व्यक्तित्व के आधार पर ही कला का विकास कर सकता है तो उसकी कठिनाई ऐसी परिस्थिति में और भी बढ़ जाएगी। उपन्यासकार की कला जीवन के सुख-सौख्य से सम्बन्धित नहीं, उसका सम्बन्ध चारित्रिक विशेषताओं और विलक्षणताओं से ही रहेगा। फलतः ऐसे समाज में जहाँ समस्त सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन एक ही स्तर का और समरूप हो गया, वहाँ हृदयग्राही पात्रों का निर्माण सरल कार्य न होगा। एक ही स्तर के सामाजिक जीवन में वैयक्तिक विचारों का ही अभाव नहीं खटकेगा, उनकी कल्पनाप्रियता भी बहुत कुछ अंश में उपन्यासकार के मार्ग में बाधा पहुँचाएगी। यही कारण है कि सामन्तवादी युग के लिखे हुए उपन्यास में कहीं हमें प्रेम और लालसा के हृदय-द्रावक चित्र मिलते हैं और कहीं गर्व और कल्पना, ईर्ष्या तथा दंभ इत्यादि के आकर्षक द्वन्द्व दृष्टिगत होते हैं। संक्षेप में, इतना कहना अनुचित न होगा कि आधुनिक युग ने जहाँ हमें अनेक दैनिक जीवन के सुखी तथा आनन्ददायक साधनों को प्रस्तुत किया, वहाँ हमारे कल्पना-जगत् तथा अध्यात्म को कुंठित भी किया। फलतः ऐसी कुंठाओं से आच्छादित जीवन अनेक विचारकों के अनुसार फलप्रद औपन्यासिक आधार नहीं प्रस्तुत कर सकेगा।

औपन्यासिक आधार के अनुसंधान की दूसरी महत्त्वपूर्ण कठिनाई हमारे सामाजिक क्षेत्र के अन्तर्गत दिखलाई देगी। प्रायः सभी युगों के उपन्यासकारों ने प्रेम तथा लालसा के दो आधारों पर किसी-न-किसी रूप द्वन्द्व का अभाव में अपनी रचना की रूप-रेखा प्रस्तुत की थी। समाज ने प्रेम और लालसा पर इतने विकट प्रतिबन्ध लगा रखे थे कि उसके अनेक-रूपी द्वन्द्वों का कोई अन्त ही नहीं था। सामाजिक स्तर की अनेकानेक विभिन्नताओं तथा संघर्षों के फलस्वरूप अनेक ऐसे आकर्षक द्वन्द्वों का निर्माण हो सकता था जो पाठकों को रुचिकर होते; परन्तु आधुनिक युग में ऐसे रुचिकर द्वन्द्वों का निर्माण व्यापक रूप में नहीं हो सका। इसका कारण यह है कि हमारे वैज्ञानिक तथा साम्यवादी विचारों तथा दृष्टिकोणों ने इस वर्ग-विशेष के द्वन्द्वों का अन्त-सा कर दिया है। प्रेम-साम्राज्य की अनेक प्राचीन कुंठाएँ जो ग्राह्यरूप में प्रदर्शित थीं, उनका अब अन्त-सा हो चला है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने प्रेम को उन्मुक्त कर दिया है और साम्यवादी आदर्शों ने अनेक नैतिक तथा वैवाहिक जटिल बन्धनों को खोल दिया है। प्रेम और नैतिकता के जो जटिल द्वन्द्व सहज ही फलप्रद रूप में अपनाए जा सकते थे, उनका आकर्षण

घट-सा गया है। प्रेम-स्वातन्त्र्य ने अनेक नैतिक विरोधों की भी समाप्ति कर दी है; अनेक वैवाहिक अड़चनें भी सरलतापूर्वक सुलझती चली जा रही हैं। और प्राचीन नैतिक सिद्धान्तों की नवीन परिभाषाएँ बन रही हैं, जिनके फलस्वरूप सब प्रकार के रुचिकर द्वन्द्वों का अभाव बढ़ता ही जायगा। पहले युग के समाज का व्यक्ति प्रेम और लालसा के द्वन्द्वों से इतना अधिक परिचालित था कि वह अपने समस्त व्यक्तित्व की बाजी लगा देता था और वह आत्महत्या तथा मृत्यु दोनों में से किसी एक को वरण करके ही शान्त हो पाता था। परन्तु आज का व्यक्ति इन गम्भीर द्वन्द्वों से जनित अशांति का परितोष न्यायालयों में कर लेता है। तुलनात्मक रूप में आत्महत्या और मृत्यु को वरण करता हुआ प्राणी न्यायालय में खड़े हुए जिरह करते हुए व्यक्ति से कहीं अधिक रोमांचक और आकर्षक प्रतीत होगा।

इसके साथ-साथ हमारे अनेक नैतिक आदर्श भी शिथिल-से हो गए हैं और अध्यात्म जगत् बहुत दूर की वस्तु हो गया है। परन्तु इस सम्बन्ध में हमें यह न भूलना चाहिए कि इन बाह्य द्वन्द्वों की समाप्ति के शिथिल नैतिकता साथ-साथ अनेक नवीन आन्तरिक और मानसिक द्वन्द्वों का भी जन्म हुआ है, और इसी कारण आज का उपन्यासकार बाह्य द्वन्द्वों से हटकर हमारे मानस के अन्तर्हित द्वन्द्वों की ओर आकृष्ट हो गया है। हमारे मन और हमारे मनस्तल के अनेक स्तरों की भूल-भुलैयाँ में पैठकर आज का उपन्यासकार अपनी कला का आधार ढूँढ़ रहा है। नैतिकता तथा आचरण-संबंधी हमारे आदर्श भी बहुत-कुछ रूप में, नवीन वातावरण के अनुसार नवीन रूप ले रहे हैं। इस कारण, स्वभावतः आज का उपन्यासकार मानव-समाज के ऐन्द्रिक जीवन का विश्लेषण कर रहा है। अनेक उपन्यासकारों ने मनुष्य की ऐन्द्रिक विकृतावस्थाओं पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है और ऐसे विषयों का आकर्षण कदाचित् अनेक लेखकों को रुचिकर होता जाता है।

कथानक के आधार की खाज के सम्बन्ध में आधुनिक समाज ने भी कुछ कम कठिनाइयों नहीं प्रस्तुत कीं। आधुनिक समाज के अनेक विभिन्न स्तर जो एक-दूसरे को अनेक रूपों में पृथक् किए हुए थे, समरूप हो गए हैं। सामन्त-वादी समाज के स्थायित्वपूर्ण स्तर आज के व्यवसायी युग ने बहुत-कुछ एक समान कर दिए और कदाचित् हम ऐसे युग की कल्पना कर सकते हैं जब इन विभिन्नताओं का भी लोप हो जायगा। वंशों, वंश-परम्पराओं तथा वंश-वैभिन्न्य इत्यादि की महत्ता बहुत-कुछ कम हो गई है और मशीन-

युग ने सभी स्तरों के व्यक्तियों को आकृष्ट किया है। राज-परिवार के लोग आज व्यवसायी हैं और अनेक प्रभावपूर्ण व्यवसायियों के वंशज नौकरी द्वारा अथवा बेकारी में जीवन व्यतीत कर रहे हैं। समाजवादी आदर्श की दृष्टि से यह नवीन व्यवस्था अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी। परन्तु उपन्यासकार की दृष्टि से उसका एक अत्यन्त फलप्रद सहारा छिन गया। वंश-परम्पराओं और वंशगत रूढ़ियों ने उपन्यासकार को अनेक द्वन्द्वपूर्ण तथा रुचिकर कथानकों की कल्पना कराई थी। परन्तु आज की समतल भूमि में उपन्यासकार को कथानक का बीज बोने में कुछ-अधिक कठिनाई ज्ञात हो रही है। परन्तु इसके विपरीत कुछ लोगों का यह विचार है कि इन सामाजिक रूढ़ियों से मुक्ति विचार-स्वातंत्र्य को जन्म देगी, जिसके फलस्वरूप कथानक चुनने में हमें कठिनाई नहीं होनी चाहिए। कुछ विचारकों का कहना है कि आज की सामाजिक स्वतंत्रताओं ने उपन्यास को कथानक न देकर मनस्तलशास्त्र और दर्शन की पहेलियाँ ही सुलझाने को दी हैं। सच तो यह है कि हुआ भी ऐसा ही है। आजकल के उपन्यासों में, यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो हमें मनस्तलशास्त्रीय पहेलियों का चक्रव्यूह-सा लगा दिखाई देगा। इस सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि आज के समाज ने हमारे अनुभवों को विस्तृत एवं व्यापक रूप दिया है। परन्तु यह व्यापक अनुभव उपन्यासकार को कितना फलप्रद हुआ है इसकी माप लगाना कठिन नहीं। उपन्यासकार की माँग तो यह है कि उसे व्यापक अनुभव नहीं, गम्भीर अनुभव चाहिए और अनुभव जितने गम्भीर होंगे कथानक उतने ही रुचिकर होंगे और वस्तु उतनी ही आकर्षक होगी। सम्भव है, एक समय ऐसा आए जब ये व्यापक अनुभव गम्भीर भी होते जायँ, तभी इनसे किसी फलप्रद व्यवस्था की आशा हो सकती है।

अनेक सामाजिक बन्धनों के टूटने तथा उसके अनेक स्तरों के मिट जाने के साथ-साथ आधुनिक समाज में एक दूसरी विशेषता यह आ गई है कि अब हम किसी भी सुव्यवस्थित तथा सुसंगठित समुदाय के सामाजिक अव्यवस्था सदस्य नहीं रहे। सामाजिक जीवन के स्वातंत्र्य के कारण हमारा सामुदायिक जीवन भी अस्त-व्यस्त तथा विच्छिन्न हो गया। किसी भी विशेष गाँव अथवा नगर से हमारा अविच्छिन्न सम्बन्ध नहीं। व्यवसायी जीवन ने हमारी जड़ें उखाड़-सी दी हैं और हम कहीं भी, किसी अवस्था में रहकर अपना जीवन-यापन ही नहीं कर सकते, वरन् समृद्धि भी प्राप्त कर सकते हैं। हमारा पुराना उपन्यासकार हमारे सामु-

दायिक जीवन से अनेक रुचिकर कथानक चुना करता था और हमें उस समुदाय के स्थायी वातावरण में रखकर अन्य समुदायों से संघर्ष कराता हुआ हृदयग्राही कहानियाँ गढ़ा करता था। अब यह आधार भी उससे छिन गया। सामुदायिक जीवन के अनेक रुचिकर सम्बन्ध होते थे और दैनिक जीवन के आदान-प्रदान में ऐसे हजारों स्थल प्रस्तुत हो जाते थे जिन पर उपन्यास की नींव रखी जा सकती थी। परन्तु अब हम व्यवसायी यात्री के समान एक जगह से दूसरी जगह चल पड़ते हैं और खानाबदोशों का-सा जीवन व्यतीत करते हुए अर्थोपार्जन में लवलीन हो गए हैं।

सामुदायिक जीवन के छिन्न-भिन्न होने के कारण आज का व्यक्ति जीवन पथ का एकांत यात्री हो गया है। उसके सभी पुराने सम्बन्ध टूट-से गये हैं और नये सम्बन्धों को जुटाने के लिए न तो उसके पास अवकाश है और न उसकी आवश्यकता। गाना सुनने के लिए वह रेडियो बजाता है; अपना परम प्रिय गीत सुनने के लिए वह ग्रैमोफोन में चाभी भरता है; नौकर के स्थान पर यंत्रों से काम लेता है; यात्रा के लिए वायुयान पर अपनी जगह सुरक्षित करा लेता है और अनिद्रा में कुछ विशेष ओषधियों का प्रयोग कर अपनी नींद बुला लेता है। उसे ऐसा ज्ञात होता है कि जीवन-यापन करने के लिए किसी अन्य व्यक्ति की आवश्यकता ही नहीं। आज का व्यक्ति जीवन-यात्रा पर अकेला निकल पड़ा और इस अकेलेपन को लेकर उपन्यासकार कहाँ तक कथानक संग्रह कर पाएगा, इसकी कल्पना हम सहज ही कर सकते हैं। अर्थ-लोलुप आधुनिक अर्थ-प्राप्ति के मार्ग पर चलता हुआ अकेला व्यवसायी हमारे आधुनिक समाज का अविकल चित्र प्रस्तुत करता है। ऐसा व्यक्ति उपन्यासकार के लिए अथवा नाटककार के लिए अथवा गीतकार के लिए कहाँ तक फलप्रद और रुचिकर होगा, कहना कठिन नहीं।

अब हमें यह देखना है कि आखिरकार उपन्यासकार के लिए कौन-से ऐसे उपकरण शेष रह गए हैं, जिनको वह सफल रूप में अपनी रचना का आधार बना ले सकता है। यद्यपि उसके अनेक सहारे टूट गए, किंतु यदि सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो कुछ-न-कुछ शेष अवश्य रह गया है और वह है मनुष्य की मानवता, जो अब भी इस विनाशकारी युग की गोद में लुक-छिप कर खेल रही है। हमारा संसार मशीनवत् होते हुए भी इनता मशीनवत् नहीं हो गया है कि उसकी आत्मा मर चुकी हो और उसके सभी मानवीय सम्बन्ध टूट गए हों। मनुष्य होने के नाते उसमें ऐसी उत्कृष्ट मानवीयता भी नहीं आ गई है कि जिसमें हमें कहीं-न-कहीं कुछ त्रुटि दिखाई दी न दे। मानव

नाम यों भी तब सार्थक होता है जब कि उसमें कुछ-न-कुछ कमी अवश्य रहे। मनुष्य की त्रुटियाँ और उसके चारित्रिक दोष अब भी हमें किसी-न-किसी रूप में अवश्य दृष्टिगत होते रहते हैं। यदि ये दोष न होते तो मनुष्य मनुष्य न रहकर देवता हो जाता और उसके प्रति हमारी समस्त सहानुभूति, हमारा समस्त अनुराग समाप्त हो जाता। सामाजिक रूप से देखने में भी हमें अनेक व्यक्ति ऐसे रूप में मिलेंगे जो दूसरे को हानि पहुँचा सकें अथवा पहुँचाते रहें और हमारा समाज उस हानि को सहन करता रहे। यही नहीं, राष्ट्रीय रूप में भी हमें कुछ ऐसे राष्ट्रों का जीवन यह बतलाएगा कि अनेक कारणवश राष्ट्र भी व्यक्तिविशेष को हानि पहुँचाने की क्षमता रखता है और समुचित आचरण न करने पर उसे हानि पहुँचा सकता है। फलतः व्यक्ति और राष्ट्र दोनों में कुछ ऐसी शक्ति रहती है जो किसी-न-किसी रूप में एक-दूसरे को हानि पहुँचा सकती है और इस हानि के फल-स्वरूप कुछ ऐसी रोचक और रहस्यपूर्ण घटनाएँ घट सकती हैं और कुछ ऐसे प्रपंचपूर्ण मानसिक विकार उत्पन्न हो सकते हैं जो उपन्यासकार की दृष्टि में सहज ही उपयोगी हो जाएँगे। इसके अतिरिक्त मनुष्य में अब भी जंतु-जगत् की कुछ थोड़ी-बहुत विशेषताएँ रह गई हैं जो सदैव ऐसे संघर्ष, ऐसे द्वन्द्व और ऐसी परिस्थितियाँ प्रस्तुत कर सकती हैं जिनके आकर्षक चित्र उपन्यासकार प्रस्तुत कर सकता है। मनुष्य की क्रूरता मशीन की सहायता से कुछ और भी तेज हो गई है और सामंत युग में जहाँ युद्ध-क्षेत्र में घायल योद्धा अपने शत्रु का सहज सहानुभूति-पात्र रहता था, वहाँ आज के युद्धक्षेत्र का सिपाही अपनी समस्त सहानुभूति केवल क्रूरता में परिवर्तित कर लेता है, और मशीनगन तथा बमों का प्रयोग उसे इतना अवकाश ही नहीं देता कि वह मानवता से सम्बन्धित किसी भी अनुभव पर विचार करे। आधुनिक मनुष्य की इस क्रूरता ने कवियों को मानवता के प्रति सजग बनाया; नाटककारों को उसके प्रति सतर्क किया और उपन्यासकारों को ऐसे अनुभवों के मानवीय आदर्श प्रसारित करने के लिए प्रेरित किया। हमारे परिवारों में भी वैध एवं अवैध प्रेम के अनेक संघर्ष, अनेकरूपीय स्वतंत्रता प्राप्त होते हुए भी, मिलेंगे जो रुचिकर कथानक के आधार रह सकते हैं। हो सकता है कि भावी युगों में एक ऐसा समय आ जाय जब कि वैध तथा अवैध में कोई अंतर न रह जाय; पर ऐसा युग अभी बहुत दूर है और जब हमारे किसी भी आदर्श सम्बन्ध पर चोट पड़ती है तब हम तिलमिला उठते हैं और उसी क्षण से उपन्यासकार को फलप्रद आदर्श मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं।

कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि आज का उपन्यासकार आधुनिक जीवन की परिधि से दूर पिछले युगों की ओर देखे और उसी के वर्णन में अपनी शक्ति लगा कर एक सम्पूर्ण उपन्यास लिख दे। परंतु इसके लिए यह आवश्यक है कि या तो उपन्यासकार में कल्पना की अतीव शक्ति हो अथवा वह इतना वयोवृद्ध हो कि उसके अंदर ही यह शक्ति उसे सहज ही प्राप्त हो। साधारणतः उपन्यासकार अपने आस-पास के जीवन से ही अपनी कला के लिए उपकरण चुनता है और ऐसे बहुत कम उपन्यासकार हुए हैं जिन्होंने अपने युग की ओर न देख कर पहिले युगों का ही प्राणी बनकर उपन्यास लिखा हो और अपनी रचना को महत्त्वपूर्ण अथवा अमर बनाया हो।

वास्तव में बहुत-कुछ खो जाने पर भी आधुनिक उपन्यासकार के लिए बहुत कुछ शेष भी है। अनुभव के क्षेत्र किन्हीं दिशाओं में कुंठित नहीं हुए हैं और अब भी हमारा संसार ऐसे विचित्र अनुभवों तथा ऐसे असाधारण विषयों और घटनाओं से भरा पड़ा है जिन्हें हमें फलप्रद रूप में उपयुक्त कर सकते हैं। मनोविज्ञान तथा मनस्तल शास्त्र के गूढ़ एवं गंभीर अध्ययन ने मानव-मस्तिष्क को ही एक ऐसा फलप्रद आधार बना दिया है जिसे उपन्यासकार सहज ही अपनाने लगे हैं। और यह कथन बहुत कुछ रूप में सत्य है कि युग चाहे कितना ही बदले और मनुष्य चाहे कितना भी परिवर्तित हो जाय फिर भी दोनों के अपूर्व सम्बन्ध किसी-न-किसी रूप में रुचिकर, आकर्षक एवं अपूर्व आधार उपन्यासकार के लिए प्रस्तुत करते रहेंगे।



नाटक

पिछले अध्यायों में साहित्य के वर्गीकरण के प्रश्न पर जो प्रकाश डाला गया था उसी के आधार पर यह सहज ही कहा जा सकता है कि नाटक भी उन्हीं विशेषताओं को अपनाने के कारण, साहित्य का नाटक के मूलाधार: एक महत्त्वपूर्ण अंग रहेगा। इसी प्रकार आलोचना और उपन्यास सभी साहित्य-वर्गों ने शब्दों के माध्यम द्वारा ही अपने लक्ष्य की पूर्ति की थी। शब्दों के विशेष योग द्वारा काव्य का निर्माण हुआ और उन्हीं शब्दों के साधारण प्रयोग द्वारा उपन्यास-साहित्य ने जन्म लिया। इसी प्रकार शब्दों के एक असाधारण प्रयोग द्वारा नाटक का भी आविर्भाव संभव हुआ। विभिन्नता केवल इसमें रही कि दोनों का उपयोग किसी लक्ष्य विशेष को ध्यान में रखकर किया गया। स्पष्ट रूप में हम यह सहज ही कह सकते हैं कि उपन्यासकार की कृति पाठकों के पठन-पाठन की दृष्टि से रुचिकर हुई और नाटक का विशेष उपयोग पठन-पाठन के लिए न होकर केवल अभिनय के लिए प्रमाणित हुआ। जिस प्रकार उपन्यासों में मानवीय कार्यों का लेखा प्रस्तुत किया गया, उसी प्रकार नाटकों में भी मानवीय कार्य-व्यापार का दिग्दर्शन कराया गया। उपन्यास ने हमारे मानवीय जीवन को व्यक्त किया और उसी को आधार के रूप में नाटकों ने भी अपनाया। विभिन्नता केवल यह थी कि नाटक, साहित्य का एक विशेष वर्ग होने के कारण कुछ विशेष नियमों के पालन करने पर बाध्य हुआ और वे नियम उस पर इसलिए लागू किए गए कि उसकी रचना का एक विशेष लक्ष्य था और उसकी एक विशेष उपयोगिता थी। उसी की पूर्ति के लिए नाटक ने कुछ ऐसे कार्य विशेष अपनाए, जो उस उद्देश्य में सहायक होते और जो रंग-स्थल की सीमाओं का विशेष अवरोध संपूर्ण रूप में मान लेते। संक्षेप में अभिनय-प्रियता द्वारा मनोरंजन की सीमाओं ने ही इस विशेष वर्ग के साहित्य को जन्म दिया।

यदि मनोविज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो अभिनय-प्रियता प्रत्येक व्यक्ति में सहज रूप में ही निहित रहती है और कदाचित् यह जन्मजात है भी। अपने बाल्य-काल से लेकर वृद्धावस्था के अन्तिम चरण तक हम इसके उदाहरण प्रस्तुत करते रहते हैं। परिवार में बातें करते हुए हम अनेक प्रकार की भावभंगी प्रदर्शित करते हैं; अपने हाथों तथा इंगितों से अपने कहे हुए वाक्यों को प्रकट करते हैं; अपनी भावनाओं को तीव्रतर बनाने के लिए अपनी आँखों और मुँह को विशेष रूप से परिचालित करते हैं। अपने मित्रों से संभाषण करने

हुए अथवा किसी अनोखी घटना का रोचक अथवा वीभत्स परिचय देने में हम अपने मुख की विचित्र मुद्राओं का प्रदर्शन करते हैं। यह सब हमारी अभिनयप्रियता का सहज प्रमाण रहेगा। इसी अभिनयप्रियता की सुरक्षा तथा प्रगति के लिए हमने नाटक और नाट्य-कला का प्रयोग किया है—और जैसे-जैसे हमारी नाट्य-प्रियता बढ़ती गई हमारी नाट्य-कला तथा नाटक-साहित्य का विकास होता गया।

परन्तु इस विकास में एक बड़ी भारी कठिनाई उपस्थित हो गई जिसका हमारी नाट्य-कला से दृढ़ सम्बन्ध था। यह कठिनाई रंगस्थल की कठिनाई थी, क्योंकि नाट्य-कला का प्रदर्शन तभी संभव था जब कि रंग-स्थल तथा उसके उपयुक्त रंगस्थल की समुचित व्यवस्था होती। रंगस्थल दर्शक-वर्ग की सीमाओं ने नाट्य-कला और नाटक-रचना दोनों पर इतना कठिन नियंत्रण रखा है जिससे कि उसकी मुक्ति आज तक नहीं हो पाई है। यद्यपि आधुनिक युग में रंगस्थल को अनेक सुविधाएँ तो हैं परन्तु फिर भी नाटककार उसके नियंत्रण से पूर्ण रूप से मुक्त नहीं हो सका। इसके अतिरिक्त एक तीसरी कठिनाई दर्शक-वर्ग की थी कि जिनके सुधार और मनोरंजन के लिए नाटक-साहित्य की अवतारणा हुई। नाटकों के दर्शक-वर्ग का मानसिक स्तर, शिक्षा-दीक्षा, रुचि और मनोभाव कभी भी एक प्रकार का नहीं होता। शिक्षा, दीक्षा, रुचि और मनःस्तर की पृथक्-पृथक् परिस्थितियाँ समाज को एक स्तर पर नहीं आने देतीं, जिसका फल यह होता है कि दर्शक-वर्ग ही नहीं, वरन् प्रत्येक व्यक्ति की ही रुचि एक-दूसरे से नितान्त विभिन्न होती है। ये ही विभिन्न रुचि के व्यक्ति दर्शक बनकर नाटकों को देखने आते हैं और उन्हें अपनी रुचि के अनुसार न पाकर आलोचना, अवहेलना तथा उपेक्षा करने लगते हैं। फलतः नाटककार का कार्य और भी कठिन हो जाता है। नाटककार, दर्शक-वर्ग की अवहेलना, जहाँ तक हो सकता है, नहीं कर सकता; क्योंकि यदि उसने उसकी रुचि की अवहेलना की तो उसका नाटक कुछ ही व्यक्ति देख पाएँगे, हाल खाली रहेगा, आर्थिक क्षति होगी और लेखक लोकप्रिय न हो पाएगा। रुचि-वैभिन्न्य के सम्बन्ध में हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि केवल एक युग के व्यक्तियों में यह विशेषता नहीं रहती है; प्रत्येक युग में यह विभिन्नता और भी गहरे रूप में दिखाई देगी। प्रत्येक शती का सामाजिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक, नैतिक तथा आर्थिक वातावरण एक-दूसरे से पूर्णतः विभिन्न रहता है और जिस

नाटककार की रचना अपने समय के समाज को रुचिकर हुई, हो सकता है, भावी शक्तियों के समाज को नितान्त शुष्क और नीरस ज्ञात होने लगे और उसकी लोकप्रियता अत्यन्त सीमित रह जाय। अतएव नाटककार की कठिनाइयों और बन्धनों को ध्यान में रखने के पश्चात् ही नाटक-साहित्य की समुचित विवेचना हो सकती है। बन्धन तथा दर्शक-वर्ग और सीमित समय की कठिनाइयों ने नाटककार के हाथ बाँध दिए हैं और जिन-जिन कठिनाइयों पर नाटककारों ने धीरे-धीरे विजय प्राप्त की है, उनका विवेचन नाट्य-साहित्य के इतिहास में सुरक्षित है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नाटक अथवा नाट्यकला के अनेक नियम होंगे, उनकी अनेक सीमाएँ होंगी और अनेक उपकरणों के समन्वय द्वारा ही श्रेष्ठ नाटक की रचना हो सकेगी। कुछ आलोचकों के अनुसार नाटक-रचना के वास्तव में दो पक्ष हैं, पहला साहित्य-वर्गीकरण पक्ष और दूसरा अभिनय-पक्ष। साहित्य-पक्ष यह चाहेगा कि नाटक में साहित्य की आत्मा अपने पूर्ण विकास पर रहे और अभिनय-पक्ष यह चाहेगा कि नाटक के पात्र श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ रूप में अभिनय-कला की मर्यादा की रक्षा करें। साहित्य-पक्ष की यह माँग होगी कि उसमें जीवन-दर्शन, लोक-रंजन, श्रेष्ठातिश्रेष्ठ अनुभूति, कल्पनात्मक प्रेरणा, भविष्यवाणी इत्यादि का सहज और आदर्श प्रदर्शन हो और अभिनय-पक्ष यह चाहेगा कि उसके प्रदर्शन में, पात्रों के चुनाव में, उनकी वेश-भूषा में, उनके संवाद में, भाषा में, इंगितों और रंगस्थलोपयुक्त सामग्री में, वातावरण में, यथार्थवादिता हो, अकृत्रिमता हो, जीवन की सहज और सरल अभिव्यक्ति हो। इस वर्गीकरण के फलस्वरूप, आलोचकों ने दो प्रकार के नाटकों की समस्या प्रस्तुत कर दी— एक साहित्यिक नाटक और दूसरा अभिनीत नाटक। कदाचित् इसका कारण यह था कि कुछ नाटक ऐसे थे जिनमें साहित्यिक-पक्ष उच्च-कोटि का था, परन्तु अभिनय-पक्ष उस स्तर का नहीं था। पठन-पाठन की दृष्टि से ऐतिहासिक तत्त्व की दृष्टि से और साहित्यालोचना की दृष्टि से श्रेष्ठ होते हुए भी जब रंगस्थल पर वे अभिनीत होते तो वे वेश-भूषा, संवाद, भाषा तथा अन्यान्य उपकरणों की उनमें न्यूनताएँ दृष्टिगत होतीं। इसी कारण उनका श्रेष्ठ और लोकप्रिय अभिनय संभव न होता। फलतः इस विवशता के कारण नाटकों के दो वर्ग अधिगत हो गए। यद्यपि इस प्रकार की रचनाएँ होती थीं परन्तु उनका अभिनय संभव न था, इसलिए यह वर्गीकरण करना आवश्यक हो गया।^१

१. हिन्दी-साहित्य के कुछ नाटककारों की रचनाओं की ओर ऐसा संकेत

परन्तु श्रेष्ठ आलोचना-सिद्धान्तों के अनुसार नाटक की रचना में अभिनयात्मकता पर विशेष ध्यान देना चाहिए, क्योंकि यही उसका प्राण है। नाटक में अभिनयशीलता ही प्रमुख तत्त्व होता है; क्योंकि नाटक की संज्ञा प्रदान करने में यही तत्त्व समर्थ होता है। इसी तत्त्व को हटा देने से उसे रूपान्तरित कर उपन्यास का रूप दे दिया जाता है, तभी उसकी समुचित आलोचना हो सकती है। परन्तु जो भी रचना नाटक-रूप में होगी उसे नाटक के सिद्धान्तों के अनुसार ही परखा जा सकेगा। और श्रेष्ठ आलोचक नाटक के उभय पक्षों—साहित्यिक और अभिनयात्मक—पर दृष्टि रखकर उन्हें भलीभाँति परख कर श्रेष्ठ आलोचना प्रस्तुत कर पाएगा। श्रेष्ठ नाटक वही होगा जिसमें साहित्य की आत्मा और अभिनय की कला समन्वित रूप में अपने पूर्ण उत्कर्ष पर हो। जिस प्रकार गुलाब के सुन्दर फूल की मधुर सुगन्धि पाकर कुछ क्षणों के लिए हम आत्मविभोर हो उठते हैं और जब उसमें यह सुगन्धि नहीं के बराबर होती है तब हमें निराशा होती है और हम उस गुलाब को अपने हाँट में न लम्बाकर गुलदस्ते में ही रहने देते हैं, उसी प्रकार अभिनय-पक्ष में शिथिल नाटक केवल पुस्तकालयों की वस्तु हो जाते हैं।

नाटकों में अभिनय-पक्ष की महत्ता प्रमाणित करने के पश्चात् यह विचारणीय होगा कि इस अभिनयात्मकता के अन्य कौन-से गुण होंगे और उसके फलस्वरूप नाटककार पर कौन-से उत्तरदायित्व रखे जायेंगे।

सीमित समय अभिनय की अनेक आवश्यकताएँ होंगी, उसकी अनेक सीमाएँ होंगी, जिनमें सबसे प्रमुख उत्तरदायित्व अवधि अथवा समय से संबंधित होगा; क्योंकि इसी मूल तत्त्व के आधार पर नाटकों का सफल निर्माण हो सकेगा। जैसा कि हम उपन्यास-कला की समीक्षा में प्रमाणित

मिलेगा। प्रायः जयशंकरप्रसाद के नाटक इसी वर्गीकरण के आधारभूत होंगे। यह सर्वमान्य है कि उनके नाटकों में यद्यपि साहित्य-पक्ष श्रेष्ठ है, परन्तु उनमें अभिनय की अनेक कठिनाइयाँ होती हैं। फलतः उनका महत्त्व साहित्यिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से ही प्रमाणित होगा। यदि इन नाटकों का अभिनय-पक्ष भी श्रेष्ठ होता तो उनका प्रचार और प्रसार भी अधिक होता और नाटक की श्रेष्ठ परिभाषा में भी वे प्रमाण-रूप रहते। इसके विपरीत ऐसे पश्चिमी नाटककार; जैसे बर्नार्ड शा, इब्सेन, सिब्स इत्यादि की रचनाएँ ऐसी हैं जो दोनों पक्षों की दृष्टि से सफल रहें। उनका साहित्य-पक्ष तो श्रेष्ठ था ही, उनकी अभिनयात्मकता भी सरल थी। ये ही उनकी लोकप्रियता के कारण भी रहे।

कर चुके हैं कि उपन्यासकार पर समझ अथवा अवधि का कोई उत्तरदायित्व नहीं और उसकी कल्पना सैकड़ों, दो-चार सौ या हजार पृष्ठों की हो सकती है। इसके विपरीत नाटककार को अवधि की सीमा का ध्यान अवश्य रखना होगा, क्योंकि वह नाटक दर्शकवर्ग के लिए लिखेगा और दर्शक-वर्ग के पास इतना समय नहीं कि वह दो-चार दिन लगातार रंगस्थल के सम्मुख बैठा रहे और अपने दैनिक कार्यों के प्रति विमुख हो जाय। नाटककार को यह सतत ध्यान में रखना होगा कि उसके पास केवल दो या तीन घण्टे का समय है; क्योंकि दो या तीन घण्टे ही दर्शकवर्ग ध्यानपूर्वक अभिनय देख सकता है और इसमें भी उसे दो या एक बार मध्यान्तर देकर उसे पुनः आकर्षित करना पड़ेगा। और ये दो या तीन घण्टे^१, दर्शकवर्ग जब रंगस्थल के सम्मुख बैठेगा तो उतने ही समय में बहुत कुछ की आज्ञा करेगा और यदि नाटककार उतने ही सीमित समय में बहुत कुछ न कह-सुन सका तो उसका नाटक विफल रहेगा और वह कटु आलोचना का पात्र बनेगा।

समय की सीमा ने नाटक और नाट्य-कला पर जो व्यापक और चतुर्मुखी प्रभाव डाला उसके कारण तदनुकूल प्रभावपूर्ण और आकर्षक नाटक के कथानक और कथावस्तु का प्राचीन आदर्श व्यर्थ सिद्ध हुआ वस्तु-नियन्त्रण और नवीन कथानक और कथावस्तु की आवश्यकता हुई, जो उस आदर्श और समय-सीमा की माँग को पूर्ण कर सके और पूर्णरूप से दर्शकों को प्रभावित करते हुए लेखक के उद्देश्य की चरितार्थता सिद्ध कर सके, अथवा दो से छः हज़ारों तक अपनी अभीष्ट-सिद्धि कर सके।

१. इसका सबसे प्रबल प्रमाण सिनेमाघरों में मिलेगा। जहाँ कोई चित्र अधिक लम्बा हुआ, दर्शकों का मन ऊबने लगता है और भूझपान की तीव्र इच्छा होने लगती है। कुछ विदेशी सिनेमागृहों ने तो सायंकाल से लेकर प्रातःकाल चार या पाँच बजे तक चित्र-प्रदर्शन की व्यवस्था बना रखी है और चित्र लगाकर प्रदर्शित होता रहता है। उनके प्रदर्शन पहले, दूसरे या तीसरे शो में नहीं होते, वे लगातार होते रहते हैं और जिसे जब अवकाश मिले आकर बैठ जाता है। वहाँ जीवन की अधिक व्यस्तता के कारण दर्शकवर्ग के मनोनुकूल अवकाश-प्राप्ति के लिए यह सुविधा सोचकर रखी गई है। अब यह प्रतिबन्ध नहीं रह गया कि दर्शकवर्ग साढ़े छः या साढ़े नौ बजे प्रदर्शन देखने जाए। आधुनिक विज्ञान ने नाट्य-कला तथा सिनेमा-कला की गहरे रूप में प्रभावित किया है।

इस प्रकार कथानक को आरम्भ, उत्थान, उत्कर्ष तथा चरम सीमा^१ पर उन्हें दो या तीन घण्टों के भीतर पहुँचाना चाहिए। नाटककार को ध्यान रखना होता है कि कथावस्तु कहीं शिथिल तो नहीं हो रही है और दर्शक-वर्ग की दृष्टि में कोई असम्बद्ध अथवा अनावश्यक स्थल तो स्थान नहीं ग्रहण कर रहा है।

कथानक और कथावस्तु के नियन्त्रित होने के फलस्वरूप पात्रों के अभिनय और कार्यों की समष्टि पर भी एक दूसरा महत्त्वपूर्ण नियन्त्रण लग गया। नाटक के कार्य-कलाप को भी नाटककारों को ऐसे रूप तथा ऐसी कार्य-नियन्त्रण विशेषताओं से परिपूर्ण रखना पड़ा जो समय की सीमा के अन्तर्गत समुचित तथा प्रभावपूर्ण रूप में प्रदर्शित किए जाते। नाटककार को इसका अवकाश न था कि वह मानवीय कार्य-व्यापार का सूक्ष्मतम विश्लेषण और विवेचन करता, प्रत्येक कार्य की पूर्ण भूमिका देता और प्रत्येक कार्य का सम्पूर्ण विकास और उत्कर्ष प्रस्तुत करता। यह स्वतन्त्रता नाटककार को प्राप्त न थी। ऐसी नियन्त्रित परिस्थिति में यह आवश्यक हो गया कि नाटककार कोई ऐसी व्यवस्था करे जो शीघ्र-से-शीघ्र और प्रभावपूर्ण रूप में प्रत्येक कार्य को प्रस्तुत कर सके। इसके लिए ऐसी व्यवस्था चाहिए कि जो बिना किसी अवरोध के आँखों के सम्मुख मनोनीत दृश्य उपस्थित कर दे और निश्चित अवधि के अन्दर चरम सीमा पर पहुँचकर अपनी चरितार्थता दिखा दे। जिस प्रकार जब घोड़ों की दौड़ होती है तो अश्वारोही, रास्ते को बार-बार देखता है, घोड़े को बार-बार थपथपाता है, उसे चुमकार-चुमकार कर उसकी शक्ति बढ़ाता रहता है और रेफरी की पिस्तौल के दगते ही उसे सरपट छोड़ देता है, परन्तु इस बात का ध्यान अवश्य रखता है कि घोड़ा रास्ते पर रहे और फिर भी हवा से बातें करता हुआ लक्ष्य पर शीघ्र-से-शीघ्र पहुँच जाय। उसी प्रकार नाटककार कार्य-व्यापार में अपूर्व क्षमता और सावधानी के साथ लक्ष्य की ओर पूर्णरूपेण उन्मुख रहता है और इतना नियन्त्रण अवश्य रहता है कि प्रगति-पथ में अवरोध न आए और शीघ्र-से-शीघ्र वह अपना अभीष्ट सिद्ध कर ले। सफल अश्वारोही के समान वह कार्य की गति, प्रगति, उत्थान तथा निष्कर्ष पर आँख लगाए चलता है और अभीष्ट सिद्ध कर लेता है। साधारण रूप में कदाचित् यह विचार असंगत न होगा कि नाटक का कार्य-व्यापार प्रभावपूर्ण, आकर्षक, भावनाओं अथवा परिस्थितियों की ज्योतिर्मय शृंखला रूप रहेगा।

उत्कर्षित भावनाओं तथा अत्यन्त संशयपूर्ण परिस्थितियों को, नाटकों में प्रश्रय देने के कारण नाटक-रचना में एक अन्य प्रकार के दोष आने का आशंका रहेगी। कभी-कभी ऐसा होगा कि नाटकीय भावनाओं और परिस्थितियों का आकर्षण इतना अधिक बढ़ जाएगा कि नाटककार नाटक के अन्य तत्वों को भुलाकर उन्हीं को सर्वश्रेष्ठ तत्त्व समझने लगेगा। ऐसे दृष्टिकोण के कारण यह भ्रामक सिद्धान्त बन सकता है कि उत्कर्षित भावनाओं तथा संशयात्मक^१ परिस्थितियों के बिना नाटक लिखा ही नहीं जा सकता अथवा जहाँ ऐसी व्यवस्था होगी, श्रेष्ठ नाटक संभव होगा। नाटककार को यह न भूलना चाहिए कि नाटक-रचना में केवल एक तत्व महत्त्वपूर्ण नहीं; उसे नाटक के सभी तत्वों पर सम रूप से अपनी दृष्टि रखनी होगी और सभी के सम्पूर्ण सामञ्जस्य द्वारा ही सफल नाटक की रचना हो सकेगी। जहाँ केवल संशयात्मक परिस्थितियों का बोलबाला होगा, वहाँ अस्वाभाविकता आएगी और नाटक यथार्थ जीवन से दूर जा पड़ेगा; और जहाँ संशयात्मक भावनाओं का बहुल प्रसार होगा, हमें जीवन की यथार्थ झाँकी नहीं दिखलाई दे सकेगी। श्रेष्ठ आलोचक इस सिद्धान्त के आधार पर अनेक नाटकों की श्रेष्ठता अथवा हीनता का निर्णय कर सकेंगे।

नाटक-रचना का, कदाचित् सबसे महत्त्वपूर्ण अंग, पात्र तथा उनकी नाट्य-कला, रहेगा। नाटक अपनी अभीष्ट-सिद्धि पात्रों तथा उनकी नाट्य-कला के माध्यम द्वारा किया करता है। और ऐसे ही कार्य सफल रूप पात्र-चयन में नाटककार को अपनाने चाहिए जो पात्र सफल रूप में प्रदर्शित कर सकें। कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि पात्रों को अदृश्य रूप में न रह कर दैवी अथवा अदैवी रूप में रंगमंच पर आना पड़ता है और साधारणतः इन अस्वाभाविक रूपों में आने के कारण यथार्थ जीवन को क्षति पहुँचती है। और वे पात्र चाहे सम्पूर्ण रूप में देव-स्वरूप ही

१. अनेक पाठकों को हिन्दी नाटक-क्षेत्र की पुरानी पारसी कम्पनियों का स्मरण हो आएगा। ये पारसी कम्पनियाँ ऐसी ही विषयधारा एकत्र करती थीं और उनके पात्र जिस अतिशयोक्तिपूर्ण तथा अस्वाभाविक भाषा का प्रयोग करते थे वह यथार्थ जीवन से कहीं दूर थी। सच तो यह है कि इन नाटकों के पात्र अपने हृदय से न बोलकर अपने शरीर से बोलते थे और उनके संवाद में नाटकीयता अधिक और जीवन-प्रदर्शन कम रहता था। शेक्सपियर के भी कुछ अपरिपक्व नाटकों में ऐसी ही परिस्थिति दृष्टिगत होगी।

क्यों न आवें और कैसी भी वेश-भूषा क्यों न पहनें, हमारी यथार्थ भावना की तुष्टि नहीं करेंगे। उनका मनुष्य-रूप हमें बार-बार याद आएगा। यही कारण है कि दैवी जीवन का सफल प्रदर्शन अथवा मानव-जीवन में दैवी जीवन का सम्मिश्रण सफल रूप में रंगमंच पर प्रदर्शित नहीं हो पाता। कुछ सफल नाटक-कारों ने इस दुर्व्यवस्था का निराकरण अत्यन्त सफल रूप में किया है। उन्होंने केवल संकेत अथवा प्रतीक रूप में दैवी कार्यों को स्थान दिया है, जिससे यथार्थ की रक्षा सफल रूप में हो गई है।

परन्तु इस शैली को अत्यन्त सावधानी से प्रयुक्त करना चाहिए, क्योंकि इस शैली के वशीभूत अनेक लेखक कुछ ऐसी रचनाएँ भी कर सकते हैं जिनमें कार्य-प्रदर्शन कम होता जाय और संकेत और प्रतीक बढ़ते जाएँ। स्पष्ट रूप में ऐसे नाटकों के भी उदाहरण कम नहीं जिनमें पात्र केवल सोचता और विचारता है और परिवर्तन के लिए कभी हाथ-पैर हिला देता है। वह कोई शारीरिक काम नहीं करता और केवल रह-रह कर अपनी मूल भावनाओं को स्पष्ट रूप में व्यक्त कर देता है। इस प्रकार के नाटक रंगमंच पर नितान्त असफल रहेंगे; क्यों कि सफल नाटक की आत्मा मूलतः कार्य-प्रदर्शन में ही निहित रहेगी। कुछ आलोचक इस सिद्धान्त के विरोध में यह कह सकते हैं कि रङ्गमञ्च पर अत्यन्त गतिशील और रोमाञ्चकारी दृश्यों का सफल प्रदर्शन सम्भव नहीं होता और नाटक वस्तुतः हमारे घरेलू जीवन की परिधि में ही फूलता-फलता है। फलतः उसमें तीव्र गतिपूर्ण कार्य-व्यापार अत्यन्त संकुचित रूप में ही प्रस्तुत रहता है और इसी कारण हमें इस प्रकार के नाटकों के लिए कुछ अन्य सिद्धान्तों का भी निर्माण करना चाहिए। परन्तु यह सब होते हुए भी हमें सफल नाटक लिखने के लिए उस घरेलू जीवन की परिधि में ही गतिशील, नाटकीय तथा संशयात्मक कर्म-व्यापार की व्यवस्था बनानी पड़ेगी।

इस प्रयत्न में हमें सब से अधिक सहायता रंगमंच पर प्रदर्शित अन्य पात्रों से मिलेगी। रंगमंच पर प्रदर्शित केवल एक पात्र अपने एकाकी कार्य-व्यापार से नाटक सफल नहीं बना सकता। उसे तो अन्यान्य पात्रों के साथ रह कर, कुछ से प्रेम कर, कुछ से संघर्ष ठान कर और कुछ से त्रस्त अथवा आश्वस्त कर के ही नाटक की रूप-रेखा बनानी पड़ेगी। नाटक का पात्र ऐसा रोमांचक कवि नहीं जो केवल अपने एकाकी जीवन को संगीतमय बनाने के लिए काव्य-रचना करता है। नाटक के पात्र तो समाज के वे प्राणी हैं जो अपने कार्यों की क्रिया-प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप अपने और समाज के लिए मरते-जीते हैं और जीवन की प्रगति करते चलते हैं।

उपरोक्त विवेचन से हम यह निष्कर्ष सहज ही निकाल सकते हैं कि नाटक, साधारणतः, सामाजिक जीवन से सतत सम्बन्धित रहेगा। हमारे सामाजिक जीवन में आर्थिक, राजनीतिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन सामाजिक सम्बन्ध की समष्टि प्रस्तुत रहेगी। और मानव-चरित्र तथा मानव-समाज के जीवन का स्पष्टीकरण ही नाटक का मूल ध्येय रहेगा। यही कारण है कि आधुनिक युग में संसार के सभी नाटककारों ने अपनी दृष्टि अन्य क्षेत्रों से हटाकर समाज तथा उसकी अनेक रूपेण व्यवस्थाओं पर केन्द्रित कर दी है। आधुनिक युग में अनेक कारणवश विषम सामाजिक प्रश्न पूछे जा रहे हैं और साहित्यकारों का अब यह साहित्यिक ध्येय हो गया है कि उन प्रश्नों पर मनोकूल प्रकाश डालें, उनका हल प्रस्तुत करें और आदर्श सामाजिक व्यवस्था की ओर संकेत करें अथवा उसके निर्माण में सहयोग दें। इस नवीन प्रवृत्ति का कारण हमें आधुनिक जीवन के आर्थिक, औद्योगिक तथा राजनीतिक इतिहास में ढूँढना पड़ेगा।

ऐतिहासिक रूढ़ि के अनुसार प्रायः सभी क्षेत्रों की नाट्यकला का बीजारोपण धर्म-क्षेत्र में ही हुआ और सभी प्राचीन नाटक देवी-देवताओं के ही जीवन से सम्बन्धित थे। परन्तु विकासवाद के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए नाट्यकला और नाटक-रचना दोनों में महान् अन्तर आगया और आधुनिक युग में अनेक कारणवश ऐसे कथानकों तथा ऐसे कार्यों का सर्जन हुआ है जिनकी कल्पना प्राचीन युग में असम्भव थी। मूलतः, जैसा कि हम देख चुके हैं, सभी देशों के आधुनिक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा नैतिक एवं आध्यात्मिक विचार-क्षेत्र में परिवर्तन के फल-स्वरूप नाटक की रूप-रेखा में विशेष परिवर्तन आ गया। राजतंत्र, सामन्तवाद, जनतंत्र तथा साम्यवाद से समाज संघर्ष करने लगा; पूँजी तथा भ्रम दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध, संघर्ष और द्वेष में परिणत हुए; परम्परा, रूढ़ि तथा श्रद्धा, आधुनिकता, नवीनता, तथा तर्क में पारस्परिक द्वन्द्व छिड़ गया; राष्ट्रीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता, जातीयता तथा अन्तर्जातीयता के अनेक-क्षेत्रों में संघर्ष की भावना जाग उठी; जीवशास्त्र, मनोविज्ञान, अन्तस्तलशास्त्र ने आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक जीवन पर क्रूर आघात आरम्भ किया। आर्थिक तथा नैतिक जीवन, राजनीतिक तथा वैयक्तिक जीवन, मनस्तलशास्त्र तथा ऐन्द्रिक जीवन आदि में परस्पर विरोध की भावना का प्रसार आरम्भ होने लगा। और चूँकि नाटक मानव-जीवन का व्यापक प्रतिबिम्ब है, उसके लिए यह आवश्यक हो गया कि मानव-जीवन के सभी क्षेत्रों पर उसकी दृष्टि एकाग्र रहती और इन्हीं क्षेत्रों से वह अपना आदर्श

जीवन ग्रहण करता। फलतः इसमें आश्चर्य क्या कि उन्नीसवीं शती^१ के समस्त नाटककार इन्हीं उपरोक्त क्षेत्रों से अपने कथानक चुनते रहे, इन्हीं क्षेत्रों से सम्बन्धित जटिल प्रश्न सुलझाते रहे और इन्हीं आदर्शपूर्ण विचारों के आधार पर मनोनुकूल जीवन-दर्शन प्रस्तुत करते रहे। संक्षेप में यह कहना अनुचित न होगा कि समाजवाद तथा मतस्तलशास्त्र के नवीन विचारों ने साहित्य के सभी क्षेत्रों, विशेषतः नाटक में अपना सहज विकास पाया।

उपरोक्त विश्लेषण से यह सिद्धान्त स्पष्ट है कि नाटक मानवीय कार्य-व्यापार द्वारा ही आविर्भूत होगा, परन्तु वह किसी एक वर्ग, किसी एक व्यक्ति से सम्बन्धित न होकर सम्पूर्ण समाज सम्बन्धित रहेगा। यदि लेखक केवल द्रन्द्र एक ही व्यक्ति के मानवीय कार्य-व्यापार को चित्रित करता तो नाटक असम्भव होता; क्योंकि नाटक का प्रमुख कार्य मानसिक द्रन्द्रों का स्पष्टीकरण है। फलतः यह स्पष्ट है कि बिना किसी द्रन्द्र-पूर्ण कार्य के अथवा विचार के नाटक की आत्मा प्रकाशवान् नहीं हो पाएगी। इसी द्रन्द्रपूर्ण कार्य-व्यापार को नाटकीय रूप देने के लिए प्राचीन यूनानी आलोचकों ने अनेक सिद्धान्तों का निर्माण किया था और उनके आधार पर अमर नाटकों की रचना हुई।^२ द्रन्द्र का विश्लेषण करते हुए प्रायः दो सिद्धान्त विशेषरूप में फलप्रद हुए—पहला यह था कि द्रन्द्र साधारणतः दो विरोधी दलों में होगा; परन्तु ऐसा द्रन्द्र साधारण कोटि का रहेगा। फलतः इसके आधार पर केवल साधारण कोटि के नाटकों की रचना सम्भव हुई। और दूसरा ऐसा

१. अंग्रेजी नाटक-साहित्य में उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण से ही नवीन विचार-धाराएँ प्रवाहित होने लगीं। यद्यपि ये विचार-धाराएँ दूसरे देश के नाटककारों ने प्रवाहित कीं, फिर भी अंग्रेजी समाज ने उनका विशेष रूप में स्वागत किया। नाटककार इब्सेन की नवीन सामाजिक विचार-धारा ने अंग्रेजी समाज की परम्पराओं को विशेष रूप में उद्वेलित किया। और उन्हीं की प्रेरणा पाकर जॉर्ज बर्नार्ड शा, गाल्सवर्दी, बैरी तथा सिज़ इत्यादि नाटककारों ने अपनी विचार-धारा विकसित की और उसे प्रवहमान बनाया। हिन्दी-साहित्य में यद्यपि भारतेन्दु-विरचित नाट्य-साहित्य में यदा-कदा ‘नवीन विचार-धारा’ का दर्शन व्यंग्य और उपहास का संकेत लिए हुए होता है, परन्तु उन्हीं की यह आधुनिक विचार-धारा बीसवीं शताब्दी के हिन्दी-नाटकों में परिलक्षित होगी।

२. देखिए—‘नाटक की परख’—शेक्सपियर के नाटक।

द्वन्द्व जो मित्रवर्ग अथवा स्वजनों में होगा, उसमें अपार नाटकीयता निहित रहेगी। और जब मित्र मित्र का विरोध करेगा, स्वजन स्वजनों से ही संघर्ष करेंगे अथवा एक व्यक्ति अपने मानसिक क्षेत्र में ही बुरे और भले भावों का संघर्ष प्रस्तुत करेगा तो उच्चकोटि के नाटकों का सर्जन होगा और इस प्रकार के नाटकों की हृदय-ग्राहिता तथा मनोहारिता की माप लगाना सरल न होगा। इसका कारण यह है कि जब दो शत्रु आपस में द्वन्द्व ठानते हैं तो एक दूसरे की स्थिति से पहले से ही परिचित रहता है, वे यह पहले से ही जान लेते हैं कि एक दूसरे का अन्त अवश्य करेगा। फलतः उसमें संशयात्मकता तीव्र रूप में प्रेरित नहीं होती। परन्तु जब एक मित्र, मित्र होते हुए, धीरे-धीरे विरोधी क्षेत्र में जा खड़ा होता है, तब संशय की भावना अत्यन्त तीव्र हो जाती है। यह संशय की भावना जितनी ही तीव्र होगी उतना ही नाटक हृदय-ग्राही होगा।

इस प्रकार के द्वन्द्व-प्रदर्शन की महत्ता इसलिए और भी बढ़ जाती है कि नाटक पढ़ने के लिए नहीं वरन् अभिनीत होने के लिए लिखा जाता है। दर्शक-वर्ग दो या तीन घण्टे रंगमञ्च पर दृष्टि लगाए बैठा रहता है और इतने समय तक यदि उसकी संशयात्मकता जाग्रत न रही तो दर्शक-स्थान खाली हो जायगा और नाटक विफल रहेगा। दर्शक-वर्ग तो यह चाहेगा कि उसके सम्मुख रंगमंच पर ऐसे द्वन्द्वपूर्ण कार्य-व्यापार का प्रदर्शन होता रहे जो उसे पलक मारने का भी अवकाश न दे। और यदि नाटककार इस माँग की पूर्ति करता रहेगा तो नाटक अवश्य सफल रहेगा। परन्तु इस सिद्धान्त का यह भ्रामक अर्थ लगाया जा सकता है कि यदि दो व्यक्ति अथवा दो वर्गों के व्यक्ति रंगमंच पर लड़ते-झगड़ते, कुश्ती करते, मल्लयुद्ध ठानते, हाथापाई करते रहेंगे, क्या तब भी नाटक सफल कहलाएगा? इसका स्पष्ट उत्तर है कि नहीं। इस प्रकार के द्वन्द्व हमारी बर्बरता के चिह्न रहेंगे और उनका मूलधार शारीरिक रहेगा। यह केवल उन व्यक्तियों अथवा बालकों और किशोरों को कदाचित् प्रिय होंगे जिनकी मानसिक शक्ति अभी परिपक्व नहीं हुई और जिन्हें श्रेष्ठ मानवीय जीवन का परिचय प्राप्त नहीं हुआ है। ऐसे नाटक उच्चकोटि के न कहला कर रोमांचक प्रदर्शन मात्र रहेंगे। और जैसे-जैसे यह शारीरिक आधार मानसिकता ग्रहण करता चलेगा, वैसे-ही-वैसे नाटक भी श्रेष्ठता ग्रहण करता रहेगा; अथवा यों कहिए कि जब बाह्य द्वन्द्व मानसिक द्वन्द्व में परिवर्तित हो जाएगा तब नाटक श्रेष्ठ होगा। मानसिक द्वन्द्व के क्षेत्र में संघर्ष और संशय की भावना अत्यन्त रहस्यपूर्ण तथा गूढ़ रूप में जन्मेगी, विकसित होगी और सफल

बनेगी, जिसके फल-स्वरूप दर्शक-वर्ग सुध-बुध खोकर एकाग्रचित्त नाट्य-प्रदर्शन देखा करेगा।^१

नाटक के द्वन्द्व-तत्त्व की महत्ता प्रमाणित करने के पश्चात् यह प्रश्न सहज ही पूछा जा सकता है कि क्या नाटकीय द्वन्द्वों की शृंखला प्रदर्शित होते ही नाटक श्रेष्ठ हो जायगा; इस प्रश्न का उत्तर भी सहज है। यह तो हम सिद्धान्त रूप में मान ही चुके हैं कि केवल दो या तीन घण्टे तक ही हम रंगमंच की ओर देखने में एकाग्र रह सकते हैं। और जब हम इतने ही सीमित काल में अनेक द्वन्द्वों की शृंखला प्रदर्शित करेंगे तो प्रत्येक का विकास, प्रगति और उत्कर्ष इतने थोड़े से ही समय में कैसे सम्भव होगा! इसके लिए तो हमें कई घण्टों का अवकाश चाहिए। और यदि हमने दो-चार संवर्षपूर्ण कार्यों को भी चुन लिया तब भी उनका सम्पूर्ण विकास सम्भव न होगा। यही कारण है कि श्रेष्ठ नाटककारों ने केवल एक द्वन्द्वपूर्ण कार्य-व्यापार को अपने नाटकों में स्थान दिया है और अनेक श्रेष्ठ आलोचकों ने भी इस सिद्धान्त को मान्यता दी है। प्रमुख रूप में द्वन्द्व केवल एक ही होना चाहिए। और तभी उसका विकास और उसका हृदयग्राही रूप संभव होगा। हाँ, प्रमुख द्वन्द्व से सम्बन्धित दो-एक छोटे द्वन्द्व भी स्थान पा सकते हैं, परन्तु नाटककार को प्रमुख द्वन्द्व के ही आकर्षक प्रदर्शन में अपनी समस्त शक्ति लगानी चाहिए। उसके अतिरिक्त अन्तर्द्वन्द्व वह चुने, उनका भी यही लक्ष्य होना चाहिए कि वे प्रमुख रूप में प्रदर्शित द्वन्द्व को प्रेरणा दें और गतिशील बनाएँ।

१. यही कारण है कि शेक्सपियर के प्रायः सभी दुःखान्त नाटकों की सर्वप्रियता आज तक प्रमाणित है। उनके नाटकों के पात्र रहस्यपूर्ण मानसिक द्वन्द्व के विशिष्ट अभिनेता हैं। इन नाटकों में जब तक यह द्वन्द्व बाह्य रूप में चलता रहता है, हमें आकर्षित किए रहता है; परन्तु एकाग्र हम तभी होते हैं जब द्वन्द्व मानसिक क्षेत्र में कार्यरत हो जाता है। कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तल में शकुन्तला और दुष्यन्त के संवाद में एक-दूसरे के प्रति लगाए हुए आरोप हमें आकर्षित करते हैं; परन्तु गहरे रूप में हम तभी उसका आनन्द उठाते हैं—जब हम दोनों के मानसिक संशय का परिचय प्राप्त करते हैं। उसी भाव की छाया लिए उत्तर-रामचरित में भी हम राम के मानसिक द्वन्द्व में ही अधिक आनन्द प्राप्त करते हैं और जब तक मानसिक संशय में राम विह्वल रहते हैं तब तक हम भी विह्वल रहते हैं।

इस सिद्धान्त के मानने के फल-स्वरूप यह आवश्यक हो गया कि नाटक-कार केवल एक व्यक्ति से सम्बन्धित द्वन्द्वों का प्रदर्शन करे। एक व्यक्ति से सम्बन्धित द्वन्द्व निर्धारित प्रदर्शन-काल की रक्षा भी करेंगे

नायक और दर्शकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित रखेंगे। एक व्यक्ति से सम्बन्धित कथावस्तु और अन्तर्द्वन्द्व दोनों में शक्ति आएगी और उसकी प्रभावशालिता भी बढ़ेगी। नाटकों में प्रदर्शित ऐसे पात्र को नायक कहा जाता है। नायक कभी अपने विरोधी वर्ग से (अनेक नाट्य-कार इसी द्वन्द्व को स्थान देते हैं), और कभी वह स्वजनों से ही संघर्ष करता है और अनेक श्रेष्ठ नाटकों में वह स्वतः अपने से ही संघर्ष कर बैठता है। उसके मानस की दो विरोधी शक्तियाँ होड़ लेने लगती हैं। सत्य और असत्य, शुभ और अशुभ, आत्मोत्सर्ग तथा आत्मरक्षा, आदर्श तथा उपयोगिता, आध्यात्मिकता तथा पार्थिवता, वैर तथा प्रेम, हिंसा तथा अहिंसा आदि अनेक स्तरों के संघर्ष वहाँ स्थान बना लेते हैं। नायक वहाँ अपने निजी गुणों अथवा अव-गुणों तथा प्रस्तुत बुद्धि अथवा अदूरदर्शिता के व्यूह में फँसकर या तो सफल होता है या नितान्त असफल हो जाता है। जिस नाटक में नायक अपने कार्य-व्यापार की कुशलता के कारण सुखमय और आनन्दपूर्ण जीवन व्यतीत करने लगता है, उसे सुखान्तकी के नाम से सम्बोधित करते हैं। जिस नाटक का नायक अपनी प्रबल विरोधी शक्तियों द्वारा अपने जीवन का अन्त कर लेता है अथवा जीवन से निराश होकर आत्म-हत्या करता है, दुःखान्तकी कहलाएगी।^१

किसी भी नाटक के सफल प्रदर्शन में रंगमंच का स्थान भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहेगा। नायक, कथावस्तु, उत्कर्ष इत्यादि चाहे कितने ही उच्चकोटि के क्यों न हों, रंगमंच के सफल प्रयोग बिना नाटक सफल नहीं रंगमंच का महत्त्व हो पाता। प्रायः प्रत्येक देश में और प्रत्येक शती में रंगमंच का आकार तथा अभिनय-कला विभिन्न रही है, और उत्तरोत्तर प्रगति करती गई है। परन्तु हमें यह देखना है कि पात्रों के ऐसे कौन-से कार्य होंगे जो रंगमंच पर प्रभावपूर्ण रूप में प्रदर्शित हो सकेंगे। मानवीय द्वन्द्व-प्रदर्शन को हम नाटक की आत्मा मान चुके हैं और ऐसे ही द्वन्द्वों के सफल प्रदर्शन में रंगमंच को पूरी सहायता देनी चाहिए। साधारण रूप में, इस दृष्टिकोण से तो यह निष्कर्ष निकलेगा कि रंगमंच पर मार-पीट

१. देखिए—[नाटक की परख] सुखान्तकी खंड—दुःखान्तकी खंड।

अथवा युद्ध इत्यादि के कार्य ही अधिक प्रभावपूर्ण रहेंगे और दर्शक-वर्ग भी उस ओर आकृष्ट रहेगा। परन्तु साहित्य और संस्कृति की प्रगति के साथ-साथ इस प्रकार के प्रदर्शनों में भी धीरे-धीरे परिवर्तन होता गया और आधुनिक युग में रंगमंच से इस प्रकार के दृश्यों को निकाल फेंका गया।

आधुनिक युग में रंगमंच के आकार तथा उसके उपादानों में महत्वपूर्ण प्रगति हुई है। उसमें अब यथार्थ जीवन का सर्वाधिक समावेश रहता है। प्रत्येक रंगमंच से यह मॉग की जाने लगी है कि वह यथार्थ जीवन के नाटकीय प्रदर्शन में अपना पूर्ण सहयोग दे। इसीलिए प्रत्येक आधुनिक रंगमंच नाटक के युगविशेष, समाजविशेष तथा जीवनविशेष को पूर्णतः यथार्थ रूप में चित्रित करने में अपनी सफलता समझेगा। वास्तव में रंगमंच जीवन के रंगमंच का एक छोटा-सा आकर्षक प्रतिरूप रहता है। जीवन की विशाल पार्श्वभूमि अथवा वातावरण का वह छोटा-सा अनुकरण मात्र रहता है और नाटककार इसी यथार्थ जीवन के एक विशेष अंग को रंगमंच की सहायता से प्रस्तुत करता है। इसी विशेष अंग के अनुकूल वह दृश्य भी चुनता है और उन्हें परदों, वस्त्राभूषणों, भाषा-प्रयोग इत्यादि के द्वारा यथार्थ जीवन का बोध कराता जाता है। उदाहरण के लिए जब नाटककार बौद्धकालीन कथावस्तु रंगमंच पर प्रदर्शित करता है तो इसका सदैव ध्यान रहता है कि रंगमंच बौद्धकालीन जीवन का पूर्ण प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करे और इस कार्य में साहित्यिक अनुसन्धानकर्ता विशेष रूप से सहायता करते हैं। उस काल के रहन-सहन, चाल-ढाल, भाव, भाषा, वस्त्राभरण इत्यादि सब पर वे पूर्ण ध्यान देते हैं जिससे कि दर्शक को तीन घंटे तक यह सतत आभास मिलता रहे कि वह स्वयं बुद्ध के युग का प्राणी है और जो कुछ भी रंगमंच पर प्रदर्शित हो रहा है, उस पर उस युग की पूरी छाप है। इस ओर यदि कोई भी त्रुटि हुई तो नाटक जीवन से नीचे गिर जाएगा। उदाहरणार्थ, यदि नाटककार ने रंगमंच पर प्रदर्शित बुद्ध को प्रवचन करते समय बार-बार अपनी कलाई पर बँधी हुई घड़ी को देखने की उत्सुकता प्रदान की अथवा चलते समय उन्हें आधुनिक युग के पदत्राण पहना दिए गए अथवा भिक्षुओं को युग-कालीन दरबार के दरबारियों-सा प्रदर्शित किया गया तो घोर विच्छिन्नत्व आएगी और नाटक का साहित्यिक स्तर^१ निम्नकोटि का रहेगा।

उपरोक्त विवेचन से यह सिद्धान्त सहज ही स्पष्ट होगा कि सफल नाटक-

१. आधुनिक सिने-पटों पर इस प्रकार की विच्छिन्नत्वताओं की हतनी भरमार रहती है कि उनकी तालिका देना कठिन है।

कार को नाटकीय द्वन्द्व, यथार्थ चित्रण तथा प्राकृतिक रंगमंच की सतत आवश्यकता रहेगी। जीवन का कोई भी अंग अथवा पहलू जब तक यथार्थ की पूर्ण छाया नहीं लिए रहेगा तब तक किसी भी कलाकार को सफलता प्राप्त नहीं होगी। एक उत्कृष्ट अंग्रेजी साहित्यकार का कहना है कि यथार्थ कभी-कभी इतना चकित कर देता है कि कल्पना भी हार मान जाती है।

इस यथार्थ चित्रण की परम्परा ने नाटककारों को सुखान्तकी लिखने का विशेष प्रोत्साहन दिया। यथार्थ जीवन में यों भी ऐसे पहलू रहते हैं जो सहज ही सुखान्तकी-क्षेत्र में आ जाते हैं और नाटक में उन्हें

यथार्थ चित्रण समेट लेने की बहुत सुविधा रहती है। सिद्धान्त रूप में दुःखान्तकी मानव-जीवन के नैतिक स्तरों का उल्लेख करती है, जीवन का नैतिक एवं आध्यात्मिक गहराईयों नापती है और आत्म-दर्शन पर अपनी दृष्टि एकाग्र रखती है। इसके विपरीत सुखान्तकी जीवन के दैनिक कार्य-व्यापार, रहन-सहन, आचार-विचार इत्यादि पर आधारित रहती है। दुःखान्तकी जीवन के आदर्श दृष्टिकोण को परखती है; सुखान्तकी जीवन के साधारण एवं यथार्थ की ओर आकृष्ट होती है। दुःखान्तकी मनुष्य के हृदय और उसकी आत्मा का अवगाहन करती है, सुखान्तकी मनुष्य के बाह्य आचार-विचार को अपनाती है।

दुःखान्तकी के द्वन्द्व मनुष्य को आहत अथवा मर्माहत कर डालते हैं, सुखान्तकी के द्वन्द्व व्यक्ति को हास्यास्पद प्रमाणित कर छोड़ देते हैं। दुःखान्तकी कल्पना और आदर्श को अपना संबल बनाती है और सुखान्तकी मानवीय शिष्टाचार की उच्छृङ्खलताओं को प्रभावित करती है। समाज और व्यक्ति के साधारण सम्बन्ध उसे प्रिय हैं।

उपरोक्त विवेचन से कदाचित् यह भ्रामक अर्थ निकल सकता है कि हमारा समाज उत्तरोत्तर सुखान्तकी की ओर आकृष्ट होने के कारण अपनी गम्भीरता, अपनी आदर्शवादिता, अपनी दैवी नैतिकता खो सुखान्तकी की रहा है, परन्तु सच तो यह है कि हमारे रंगमंचों की यथार्थ-सर्वप्रियता प्रियता ही हमें सुखान्तकी की ओर आकृष्ट कर रही है।

इसके साथ-साथ हमें अन्य सामाजिक तथा आर्थिक एवं राजनीतिक कारणों को भी देखना पड़ेगा। आधुनिक युग के राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक द्वन्द्वों में सुखान्तकी अपना सहज वातावरण बना लेती है। इसके विपरीत दुःखान्तकी के लिए या तो वीरकालीन अथवा मध्ययुगीन

आदर्शों की अपेक्षा होगी, जो आज के युग में कदाचित् कम सम्भव होंगे। यों भी आधुनिक युग का प्राणी जीवन की विषम जटिलताओं में इतना व्यस्त रहता है कि वह उनका प्रदर्शन नाटकों में भी नहीं देखना चाहता। रोदन और दुःख तो उसके दैनिक अनुभव रहते हैं और वह इन विषम अनुभवों से छुटकारा पाने के लिए सुखान्तकी की शरण लेता है; परन्तु इसके यह अर्थ नहीं कि दुःखान्तकी की रचना महत्त्वहीन है और दुःखान्तकी नाटककार निम्न कोटि का है। वास्तव में दोनों में ही एक विशेष कला अपेक्षित होगी।

दुःखान्तकी की आत्मा अपनी पराकाष्ठा पर तब पहुँचती है जब नायक का मानसिक द्वन्द्व उसे नैतिक प्रकाश देती हुई मृत्यु के द्वार पर छोड़ देता है। इस अन्त को देखकर दर्शक-वर्ग को आत्मिक सन्तोष मिलना चाहिए, जीवन के प्रति उसकी आस्था बढ़नी चाहिए और उसे यह पूर्ण विश्वास हो जाना चाहिए कि नायक की अन्तिम गति का उत्तरदायित्व यदि पूरा नहीं तो बहुत कुछ उस पर ही था। दर्शक को नायक पर क्रोध नहीं, वरन् दया आनी चाहिए; उससे घृणा नहीं, वरन् उसके गुणों के प्रति उनकी सहानुभूति जगानी चाहिए। उन्हें यह विश्वास हो जाना चाहिए कि दुःखान्तकी का अन्त और किसी अन्य रूप में हो ही नहीं सकता था और नायक का अन्त जीवन-चक्र की नैतिकता का पूर्ण प्रमाण है। इसके विपरीत यदि नाटककार ने यह आभास दिया कि नायक क्रूर भाग्य का शिकार है और उसकी अधोगति की पूरी जिम्मेदारी एक अविचल, कठोर तथा अमानवीय शक्ति पर है तो नाटक विफल रहेगा और उसका कोई भी साहित्यिक मूल्य नहीं रहेगा।^१

इस सम्बन्ध में हमें बहुत से ऐसे नाटककारों का ध्यान आएगा जिन्होंने अनेक दुःखान्तकी लिखे परन्तु उनकी रचनाओं में यह बात नहीं आ पाई जो शेक्सपियर के समान दुःखान्तकी नाटककारों में सहज ही प्रस्तुत थी। अनेक आधुनिक नाटककारों ने ऐसे नायकों का निर्माण किया जिनके जीवन में द्वन्द्व था, उसमें तीव्रता थी, उसमें दुर्भाग्य था, परन्तु फिर भी उनमें वह गम्भीर रहस्य नहीं था, जो शेक्सपियर में था। इसका सरल कारण यह है कि इन आधुनिक नाटककारों का क्षेत्र संकुचित है, वे जीवन के केवल एक पहलू से ही अपनाते हैं। वे नायक को वर्ग-विशेष अथवा समाज-विशेष अथवा वातावरण-विशेष में रखकर द्वन्द्व प्रस्तुत करते हैं। उनके नायक कभी सामाजिक दुर्व्यवस्था से टकराते हैं अथवा आर्थिक विषमता के विरुद्ध कमर कस कर खड़े हो

१. देखिए, 'नाटक की परख'—'शेक्सपियर के नाटक'।

जाते हैं अथवा सामाजिक जीवन के किसी भी वैराग्य-पूर्ण शक्ति से होड़ ले बैठते हैं और इस द्वन्द्व में मार्मिकचोट खा जाते हैं अथवा रंगमंच से मुँह छिपा कर चल देते हैं। इसके विपरीत उत्कृष्ट दुःखान्तकी लेखक शेक्सपियर के नायक समस्त मानव-जीवन का नेतृत्व ग्रहण करते हैं, जीवन की व्यापक नैतिक शक्तियों से द्वन्द्व ठानते हैं, कल्पना-जगत् से अपना सम्बन्ध स्थापित करते हैं, प्रकृति की मूर्त्त और अमूर्त्त शक्तियों के शिकार हो जाते हैं और उनके जीवनान्त का विश्लेषण करते हुए हम यह तर्क रूप में कभी नहीं कह सकते कि केवल एक कारण उनकी अधोगति का उत्तरदायी था। कहीं पर हमें उनका दुर्भाग्य, कहीं उनकी आत्मिक विशिष्टता, कहीं उनकी कल्पना, कहीं प्रकृति की रहस्य-पूर्ण शक्ति सभी बारी-बारी से उत्तरदायी कहलाई जा सकेंगी।

पारिभाषिक रूप में हम कह चुके हैं कि जिस नाटक का नायक अपने जीवन-ध्येय में विफल होकर अपने जीवन का अन्त, अपने अथवा दूसरे के हाथों देखता है, वह दुःखान्तकी कहलाएगा। इसके विपरीत जिस नाटक का अन्त नायक के जीवन-ध्येय की सफलता में हो वह सुखान्तकी कहलाएगा। परन्तु यह परिभाषा कुछ ही अंशों में मान्य हो सकेगी। हमें ऐसे अनेक नाटकों का स्मरण आएगा जिनमें नायक की मृत्यु नहीं होती, और ऐसे भी जिनमें नायक अन्त में सफल होता है, परन्तु फिर भी हम उन्हें सुखान्तकी कहने में संकोच करेंगे। जैसा कि हम पिछले पृष्ठों में स्पष्ट कर चुके हैं, सुखान्तकी का मुख्य ध्येय हास्य द्वारा मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक तर्कहीन अथवा असंगत आचार-विचार का संशोधन रहेगा और इसके विपरीत दुःखान्तकी का ध्येय भय और करुणा की भावनाओं द्वारा मानव-जीवन की नैतिकता तथा आध्यात्मिकता का प्रतिष्ठान रहेगा। परन्तु बहुत से आधुनिक नाटक इस दोनों भेदियों में नहीं रखे जा सकेंगे। इस कठिनाई का एक विशेष कारण है।

आधुनिक औद्योगिक तथा विज्ञान के युग में मानव-समाज के सम्मुख ऐसे अनेक प्रश्न उठ खड़े हुए हैं जिनका उत्तर सरलता से नहीं मिलता और

चूँकि समस्त साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करता है,

समस्यात्मक नायक भी इन प्रश्नों का उत्तर देने में प्रयुक्त किए जाने

नाटक लगे। नाटककार आधुनिक युग के इन जटिल प्रश्नों का

उत्तर अपने-अपने दृष्टिकोण विशेष से देने लगे और इस

प्रकार के नाटक समस्यात्मक कहे जाने लगे। इन नाटकों में, नाटककारों में

सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा अन्यान्य औद्योगिक जटिल समस्याओं पर

प्रकाश डालने का प्रयत्न किया। आधुनिक युग तो यों ही अनेक जटिल समस्याओं का चक्रव्यूह प्रस्तुत कर रहा है और नाटककारों के सम्मुख ये समस्याएँ आएँ तो आश्चर्य ही क्या ! औद्योगिक क्षेत्र में हम कहीं हड़ताल देखते हैं तो कहीं कारखानों के बन्द करने की धमकी; कहीं बोनस की माँग, तो कहीं कम्पनी का घाटा, कहीं वेतन की कमी का आन्दोलन, तो कहीं पूँजीपतियों की व्यापारिक हानि का लेखा; सभी ऐसी समस्याएँ हैं, जिनमें समाज वर्ग-वैमनस्य, घृणा, हठधर्मी तथा पाखण्ड का शिकार हो जाता है और समस्या जटिल होती जाती है। राजनीति-क्षेत्र में पैसे के जोर पर मतदान होने लगता है और विद्वत्ता तथा श्रेष्ठाचरण का मूल्य नहीं लगाया जाता; कहीं राजनीतिक नेता खोखले नारों के आधार पर भोली-भाली जनता को पथ-भ्रष्ट करते हैं तथा दूसरी ओर सत्यसेवी तथा कर्मनिष्ठ व्यक्तियों की कोई प्रतिष्ठा नहीं होती। न्याय के क्षेत्र में लक्ष्मी धर्म-काँटे को असन्तुलित कर देती है और लक्ष्मीपति पद तथा प्रतिष्ठा के जोर पर न्याय को अपने पक्ष में कर लेते हैं और असहाय तथा निर्धन व्यक्ति न्यायालयों में दोषी ठहरा दिए जाते हैं। आर्थिक क्षेत्र में मनुष्यता तथा अन्यान्य मानवीय गुणों की उपेक्षा होने लगती है और सम्पन्न व्यक्ति कपट तथा छल-छद्म द्वारा अपने ध्येय में पूर्णतः सफल होते हैं। पारिवारिक क्षेत्र में केवल ज्येष्ठता के आधार पर छोटों का अधिकार मारा जाता है—ये सभी समस्याएँ हमें आधुनिक जीवन में पग-पग पर हमें मिलेंगी और अनेक नाटककार अपनी रचनाओं में इन्हें सुलझाते हुए दिखाई पड़ेंगे।

इन समस्यात्मक नाटकों की, शैली की दृष्टि से, कुछ विशेषताएँ रहेंगी। इन नाटकों में नायक अथवा नायिका का प्रश्न नहीं उठता और नहीं इनमें

दुःखान्तकी का मार्मिक द्रव्य अथवा सुखान्तकी का हास्या-

शैली स्पष्ट विषमताएँ ही दृष्टिगत होंगी। सच पूछा जाय तो समस्या ही इन नाटकों में नायक का स्थान ले लेगी; क्योंकि उसी

पर पात्रों का निर्माण, उनका चरित्र उनका दृष्टिकोण आधारित रहेगा। इस प्रकार के नाटकों की दूसरी विशेषता यह रहेगी कि इनके मुख्य पात्र समाज के द्वन्द्वपूर्ण वर्ग-विशेष का नेतृत्व ग्रहण करेंगे। अपने वर्ग का नेतृत्व करने में वे अपनी समस्त आन्तरिक और बाह्य शक्ति लगा देंगे और समस्या की जटिलता को स्पष्ट करेंगे। जो भी गुण-दोष वे प्रदर्शित करेंगे उनकी वे पराकाष्ठा दिखलाएँगे और अन्त में अपनी हार अथवा जीत पर दौत पीसते अथवा अट्टहास करते नाटक पर पटाक्षेप कर देंगे।

परन्तु इसका एक विषम फल यह होगा कि मुख्य पात्रों का चरित्र-चित्रण बहुत कुछ अंशों में अस्वाभाविक रहेगा, क्योंकि नाटककार उनको किसी विशेष समस्या को सुलझाने के लिए प्रयुक्त करता है और इस प्रयोग में वे अपनी नैसर्गिक प्रतिभा बहुत कुछ अंश में कुंठित कर लेंगे। और साधारणतः नाटककार के हाथ की कठपुतली के समान ज्ञात होंगे। उनमें अपना निजी जीवन कम प्रदर्शित रहेगा और समस्या को द्वन्द्वपूर्ण बनाने में, उनमें कुछ विशेष अवगुणों अथवा गुणों का कृत्रिम समावेश करना पड़ेगा। वर्ग-विशेष का प्रतिनिधित्व करने में यों भी उनके बहुत से नैसर्गिक चारित्रिक गुणों का विकास न हो पाएगा और वे ही गुण अथवा अवगुण जो समस्या के विशेष सहायक होंगे, तीव्र रूप में प्रदर्शित किए जाएँगे।

पात्रों की संख्या तथा उनके द्वन्द्वपूर्ण प्रदर्शन में साधारणतः ऐसा प्रतीत होगा कि वे शतरंज की गोटी के समान प्रयुक्त किए जा रहे हैं और नाटककार मनमाने रूप में उन्हें आगे बढ़ाता या पीछे खींचता है। शतरंज के खिलाड़ी का ध्येय बाजी जीतना रहता है और वह सुहरों का विशेष मूल्य नहीं लगाता, उसी प्रकार समस्यात्मक नाटक लिखनेवाले कलाकार पात्रों का मूल्य नहीं लगाते और समस्या की प्रगति, चरम सीमा तथा उसके हल पर ही अपना ध्यान एकाग्र रखते हैं। इस विवेचन का यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि सभी समस्यात्मक नाटकों के पात्र निर्जीव अथवा अस्वाभाविक रहेंगे, क्योंकि इसका बहुत कुछ उत्तरदायित्व लेखक की प्रतिभा पर रहेगा। प्रतिभावान् लेखक इन पात्रों को गतिपूर्ण तथा सजीव रख सकते हैं और हाथों की कठपुतली होते हुए भी उनमें ऐसे व्यक्तित्व का समावेश कर सकते हैं, जिससे वे जीते-जागते, आकर्षक रूप में रंगमंच पर प्रदर्शित होते हैं। जैसा कि हम पहले संकेत कर चुके हैं कि बहुत से समस्यात्मक नाटककार साधारणतः समस्या का हल प्रस्तुत नहीं करते और दो द्वन्द्वपूर्ण वर्गों से अपना-अपना मत प्रदर्शित कराके छोड़ देते हैं। परन्तु फिर भी ऐसे संकोचपूर्ण कलाकारों में भी इस बात के बहुत गहरे संकेत मिलेंगे कि कौन-सा वर्ग दोषी है और यदि दोनों दोषी हैं तो उनमें हानि किसकी अधिक हुई।

संक्षेप में समस्यात्मक नाटक लिखनेवाले कलाकारों का प्रमुख गुण मर्यादित सन्तुलन रहेगा और जितने सन्तुलन के साथ वे समस्या पर प्रकाश डालेंगे उतनी ही उनकी रचना श्रेष्ठ होगी; और यदि कहीं उनका व्यक्तिगत दृष्टिकोण अथवा पक्षपात उन्हें वशीभूत कर बैठा तो रचना का स्तर गिर जाएगा। लेखक में जितनी अधिक सचाई, निष्कपटता, सहृदयता, स्वाभा-

विकता तथा सन्तुलन रहेगा, उतना ही वह अपनी रचना को श्रेष्ठतर बनाएगा ।

इन समस्यात्मक नाटकों में हमें कहीं अश्रुपूर्ण, कहीं हास्यपूर्ण और कहीं संशयपूर्ण परिस्थितियों के दर्शन होंगे और कहीं हर्ष, शोक, क्रोध, घृणा, वैमनस्य इत्यादि के शिकार पात्रों का परिचय मिलेगा और वे अवगुण जितने ही स्वाभाविक रूप में प्रदर्शित किए जाएंगे, उतना ही नाटक लोकप्रिय बनेगा । इन नाटकों की लोक-प्रियता प्रायः लेखक की व्यक्तिगत प्रतिभा पर बहुत कुछ आधारित रहेगी ।

समस्यात्मक नाटकों की अपनी-अपनी विशेषता उनके शिल्पकार से सम्बन्धित रहेगी । प्रायः ये रचनाएँ एकांकी, दो अंकों या तीन अंकों में ही विकसित मिलेंगी और उनका विस्तार साधारणतः ६ अंकों के नाटकों के समान नहीं हो पाएगा । इसका कारण यह है कि परम्परानुसार छह अंकों के नाटकों में अनेक सहायक कथाओं को स्थान मिलता था और मुख्य कथाओं से सम्बन्धित होते हुए उनका कभी विकास होता चलता था और वे मुख्य कथा की प्रगति में सहायक रहा करती थीं । समस्या-नाटकों में इतना विकास सम्भव नहीं, क्योंकि समस्या ऐसी नहीं होती, जिसमें अनेक अन्तःकथाओं को स्वाभाविक रूप में स्थान मिल सके । दो वर्गों के द्वन्द्व में सीमित होने के कारण उनका विस्तार यों भी छोटा रहेगा और इस सीमा के अन्दर द्वन्द्व की तीव्रता तथा भावनाओं की तीक्ष्णता को विकास पाने का पूरा अवसर मिलेगा । उसके विस्तार की कमी द्वन्द्व को तीव्रतापूर्ण करेगी और जितने ही तीव्र रूप में द्वन्द्व प्रदर्शित होगा उतना ही नाटक का आकर्षण बढ़ेगा । विस्तार की कमी के कारण इन नाटकों में पात्रों की अधिक बहुलता भी नहीं रहेगी । दोनों द्वन्द्वपूर्ण वर्गों के प्रतिनिधियों से सम्बन्धित थोड़े-बहुत पात्र रंगमंच पर आएँगे और उनका भी प्रयोग द्वन्द्व को तीव्र बनाने में होगा । इन गौण पात्रों का भी बहुत अधिक महत्त्व नहीं रहेगा और वे केवल द्वन्द्व की जटिलता और उसकी विशेषता को स्पष्ट करने में ही विशेषतः सहायक होंगे । प्रायः इन नाटकों के मुख्य पात्र, जैसा हम पहले कह चुके हैं, नायक की भूमिका ग्रहण नहीं करते । समस्या नाटकों के छोटे-छोटे पात्र इस द्वन्द्व को पूर्ण बनाने में कभी-कभी अपना जीवन खो बैठते हैं, जो आगे बैठे हुए दर्शकों की आँखें खोल देते हैं और उनकी करुणा, सहानुभूति इत्यादि मानवीय गुणों को जागृत कर देते हैं और वे क्षणिकता त्याग कर स्थायी होने लगते हैं ।



हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

पो. बाँक्स नं. ७०, पिशाचमोचन
वाराणसी-१.



क. मुद्रक : विद्यामन्दिर प्रेस (प्रा) लि., मानमन्दिर, वाराणसी-१.